

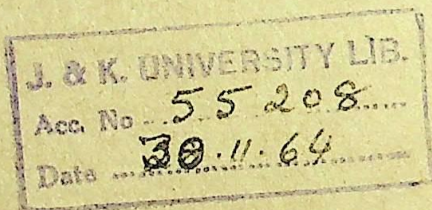
प्रेमचंद

[साहित्यिक, सामाजिक, दार्शनिक एवं राजनैतिक प्रवृत्तियों का अध्ययन]

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशकः—
साहित्य निकेतन
कानपुर

प्रथम संस्करण १०००
१९५२
मूल्य २॥)



मुद्रकः—
सिलवर प्रिंटिंग प्रेस
अहाता सवाईसिंह
कानपुर

समर्पण

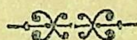


ताड़ के उन वृक्षों

को

जिनमें

न छाया है; न फल



विषय सूची

प्राक्कथन

प्रेमचन्द का युग समाप्त हो गया है, परन्तु उस युग की समस्याएँ आज भी जीवित हैं। जिन समस्याओं की अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुई है वे आज भी किसी न किसी रूप में हमारे आधार को खोखला करती जा रही हैं। जमींदारी का उन्मूलन तो हो गया परन्तु किसान आज भी अभिशप्त, संतप्त एवं शोषित है। प्रेमचन्द के ही शब्दों में आज उनका शोषण 'जॉन' के स्थान पर 'गोविन्द' डटकर कर रहे हैं। उन्हें न तब सुख और शांति थी, न अब। समाज में वही दोष आज भी वर्तमान हैं जो प्रेमचन्द को 'गबन' 'निर्मला' 'सेवासदन' आदि के रचना काल में खटक रहे थे। हिन्दू कोड बिल बन भले ही गया पर हमारी सरकार में उसे लागू करने की शक्ति नहीं, साहस नहीं, और इसी लिए आज भी नारी की समस्याएँ उतनी ही विकृत बनी हुई हैं जितनी प्रेमचन्द के जीवन काल में थीं। जान पड़ता है कि प्रेमचन्द के नारी पात्र 'सुमन' 'निर्मला' 'धनिया' 'मुन्नी' 'जालपा' 'अहिल्या' 'विद्या' तथा 'सुमित्रा' आज भी जीवित हैं और समाज के अभिशापों से आज भी गर्हित जीवन व्यतीत कर रही हैं। वर्णव्यवस्था के प्रति हमारी रूढ़िप्रियता आज भी सजीव है। महाजन और पूंजीपति पूर्ववत जनता की मेहनत पर सुख की नींद सो रहे हैं। इन समस्त, दोषों, अत्याचारों और असंगतियों की, प्रेमचन्द ने एक सच्चे जनवादी साहित्यकार के नाते, आलोचना की और डटकर संघर्ष किया। प्रेमचन्द का साहित्य देश काल के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन से अत्यधिक गुंफन एवं सामंजस्य का साहित्य है। उनके साहित्य में जीवन के विविध पक्षों का ईमानदारी एवं कलात्मकता के साथ चित्रण हुआ है इसीलिए उनका साहित्य आज भी हमें संघर्ष के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित करता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के

साहित्य की उपयोगिता एवं महत्व आज तो है ही भविष्य में भी बना रहेगा। प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य दंभी, कुत्सित, तथा शोषक शक्तियों तथा पतनोन्मुख समाज के लिए भारी चुनौती है।

प्रेमचन्द सच्चे जनवादी लेखक थे। हम उन तमाम लोगों को जनवादी कहते हैं जो भारत की जनता को साम्राज्यवाद और उसके देशी सहायकों की दासता से मुक्त करने की इच्छा रखते हैं और उनके लिए कार्य करते हैं। सामन्ती शक्तियां और बड़े पूंजी-पति साम्राज्यवाद के देशी सहायक हैं। साम्राज्यवाद का मुख्य आधार सामन्ती शक्तियां ही रही हैं। बड़े पूंजीपतियों ने जन आंदो-लन के माध्यम से हमेशा मोलभाव किया है और सन् १९४७ में तो उन्होंने देश की जनता के साथ पूरी गद्दारी करके साम्राज्यवाद से गठबन्धन ही कर लिया। मोल भाव, समझौता और गठबन्धन को छिपाने का सबसे सुन्दर और सस्ता अस्त्र गांधीवाद रहा है। इसीलिए बिड़ला और पेथिक लारेंस दोनों ही उसके प्रशंसक रहे हैं। प्रेमचन्द ने साम्राज्यवादी शक्तियों का जीवन पर्यन्त विरोध किया। और इन शक्तियों के प्रति भारतीय जनता को सचेत एवं जाग्रत करने का प्रयत्न किया। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में प्रेम-चन्द गांधीवादी आदर्शों से कुछ कुछ प्रभावित रहे परन्तु क्रमशः वे इन आदर्शों से दूर हटते गए। प्रेमचन्द साहित्य में गांधीवादी प्रभाव के साथ साथ किसान-जमींदार संघर्ष के तीखे चित्र भी हैं। इसलिए इस असंगति के बावजूद प्रेमचन्द अपनी शुरू की रचनाओं में भी मूल रूप से जनवादी ठहरते हैं। बाद को तो वे बिना किसी समझौते के साम्राज्यवाद से अन्तिम संघर्ष करने का समर्थन करते थे। वे सामन्ती संस्कृति के बन्धन तोड़कर नयी संस्कृति की रचना में आजीवन व्यस्त रहे। इसीलिए हम उन्हें जनवादी लेखक कहते हैं।

प्रेमचन्द जनता के कलाकार थे। उनके साहित्य में जनता के सुख-दुख, आशा-निराशा जय-पराजय एवं संघर्ष के सुन्दर चित्र व्यक्त हुए हैं। जनता की भावनाओं के तार उनके साहित्य में झंकृत मिलते हैं, साहित्य द्वारा जनता की सेवा करना जिसका ध्येय हो, जिसका साहित्य और जीवन जनता को साम्राज्यवाद बड़े पूंजीपति-सामन्तों की गुलामी से उन्मुक्त करने के लिए अर्पित हो, वह जनता का कलाकार है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों एवं अनेक कहानियों (उदाहरणार्थ 'कफन' और 'पूस की रात') में जनता की आर्थिक गुलामी और विवशता के सुन्दर चित्र खींचे हैं। प्रेमचन्द ने शहरों में रहने वाले कथित सभ्य समाज को सतत शोषित एवं उपेक्षित ग्रामीण जनता से परिचित कराया है। इतना ही नहीं उन्होने हमें जनता से सीखना और उसकी सेवा करना भी सिखाया है। यह उनकी बड़ी भारी देन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उपन्यासकार प्रेमचन्द का अध्ययन एवं मूल्यांकन किया गया है। समाज, धर्म, नारी, राष्ट्रीयता, वर्ण-व्यवस्था तथा अन्य विषयों का अध्ययन करते समय इस बात का सर्वत्र अनुभव हुआ कि प्रेमचन्द बड़े मननशील प्राणी थे और उनकी अन्तर्दृष्टि समस्या की तह तक सरलता से पहुँच जाती थी। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व बड़ा महान था। धार्मिक, सामाजिक एवं साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता उनमें कहीं नहीं मिलती है। उनके उदार हृदय में सब वर्गों के लिए समान स्थान था। लोकमंगल विधायक भावना जितनी तुलसी एवं कबीर आदि सन्तों में उपलब्ध होती है उससे किसी प्रकार कम प्रेमचन्द में नहीं है असन्तुलित विभाजन के प्रति उनके हृदय में बड़ा विद्रोह था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रेमचन्द के विषय में प्रचलित विभिन्न भ्रमों एवं शंकाओं का निवारण करने का प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे विषय भी आ गए हैं जिन पर प्रमाण देते

हुए सविस्तार लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। लेखक ने इस ग्रन्थ में प्रेमचन्द विषयक केवल उन्हीं समस्याओं को लिया है जिनका अध्ययन अत्यधिक आवश्यक होते हुए भी साहित्य-कारों द्वारा उपेक्षित रहा है। आशा है कि इस ग्रन्थ के द्वारा प्रेमचन्द के विषय में अनेक बातें स्पष्ट हो जायँगी।

प्रेमचन्द का साहित्य युग की घटनाओं, जनता के पुनरुत्थान और पुनर्जागरण का विस्तृत इतिहास है। दूसरे शब्दों में यह साहित्य तत्कालीन समाज का दर्पण है और भावी इतिहास-कार के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करेगा। उनके साहित्य में अनेक ऐसी समस्याओं की अभिव्यक्ति हुई है जिनका समाज शास्त्र की दृष्टि से अध्ययन आज भी अपेक्षित है। युग की अनेक प्रवृत्तियां उनके उपन्यासों में बड़े ही सजीव ढंग से व्यक्त हुई हैं, परन्तु आज तक हिन्दी के आलोचकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सका है आशा है, भविष्य में हमारे साहित्य के विद्यार्थी इस ओर भी ध्यान देंगे।

इस पुस्तक की छपाई का काम जल्दी में हुआ है। प्रूफ लेखक ने स्वयं नहीं देखे हैं, फलस्वरूप अनेक भूलें रह गई हैं। लेखक को इस बात का खेद है। आशा है पाठक संशोधन कर लेंगे।

मेरे लिए प्रेमचन्द का उपन्यास-साहित्य सुलभ बनाने का श्रेय, श्री प्रेम कृष्ण टण्डन को है। उनके पुस्तकालय से इस ग्रन्थ के रचना काल में अनेक पुस्तकों की सहायता मिली। लेखक एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञ है।

ग्रन्थ के लिखने में श्री आदित्य मिश्र एम० ए० तथा डा० हीरालाल दीक्षित से अनेक सुझाव मिले। लेखक इन विद्वानों का हृदय से आभारी है।

मौरावाँ (उन्नाव)
८ अक्टूबर १९५२

त्रिलोकी नारायण दीक्षित

प्रेमचंद का जीवन-दर्शन

पञ्च-तत्वों से विनिर्मित मानव-जीवन दार्शनिकों की दृष्टि में निःसार और नगण्य है। मानव शरीर का उपयोग उनकी दृष्टि में कृष्णार्पण मात्र है उनके मत से मानव को माया के जंजालों से युक्त संसार में पद्मपत्रमिवाम्भसः रहना उपेक्षित है। परंतु हमारा जीवन दार्शनिकों के काल्पनिक एवं मानव की बुद्धि से परे संसार और जीवन दर्शन से पृथक है। हमारा आज का जीवन यथार्थ की भूमि पर उगता है। संसार सागर में आज पद्म पत्र नहीं वरन् संघर्ष प्रधान मानव के समान रहना होगा। आज पलायन के लिए जीवन में कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक युग में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारणों एवं परिस्थितयों से मानदण्ड एवं जीवन दर्शन परिवर्तनशील रहते हैं। वैज्ञानिक साधनों के अविष्कारों और आर्थिक विषमताओं तथा शोषणाधिक्य के कारण आज का जीवन और जीवन दर्शन आज से सौ वर्ष पूर्व के जीवन और जीवन-दर्शन से सर्वथा भिन्न हो गया है। प्रत्येक मनुष्य जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। किसी का जीवन जीने के लिए जीना है और किसी का दूसरे के शोषण के आधार पर सुख संचय के हेतु। एक संसार में क्लेश पीड़ा और मरीचिका देखता है, दूसरा पाप-पुण्य के विश्लेषण में ही जीवन यापन करता रहता है। गौतम बुद्ध ने दुख को ही प्रधानता दी और जीवन और दर्शन में ब्रह्म को कल्पना का स्थान भी न प्रदान किया, और दूसरी ओर महात्मा गांधी ने अंग्रेजों के शोषण, अत्याचार और उत्पीड़न को रघुपति राघव राजाराम की इच्छा का फल माना। एक भाग्य का चेरा बना रहता है और दूसरा इस विचार के प्रति विद्रोह करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति

का अपना जीवन-दर्शन होता है और वह अपनी रचनाओं में उसी जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। कलाकार प्रेमचन्द्र इस सामान्य नियम के अपवाद नहीं थे। उनका भी अपना जीवन के प्रति दृष्टिकोण था जो उनके उपन्यासों, कहानियों और निबन्धों आदि में अभिव्यक्त हुआ था।

प्रेमचन्द का जीवन एक साधारण निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति का सा जीवन रहा। उसमें उत्थान-पतन तथा उन्नति-अवनति के लिए अवसर नहीं के सदृश्य थे। एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन में कौतूहल, विकास, और उत्थान के लिए अवसर होते ही कहाँ है। उसके लिए तो सबसे महान समस्या होती है पेट की आग शाँत करना और वह इसी समस्या को लेकर जीवन पर्यन्त संघर्ष में व्यस्त रहता है। प्रेमचन्द की जीवनी से ज्ञात होता है कि वे जीवन पर्यन्त धन के अभिशाप से अभिशप्त रहे। ट्यूशन, मास्टरी, डिप्टी इंस्पैक्टरी, पत्रकारिता व सम्पादकत्व सभी कुछ किया पर लक्ष्मी जैसे उनसे रूठी हो तो रही। कोई निस्तार न देखकर उन्हें फिल्म में जाना पड़ा पर जिस दुर्भाग्य से उनका गठबन्धन हो चुका था उससे छुटकारा न मिला—न मिला। यह था प्रेमचन्द का जीवन। संक्षेपतः वे आद्योपांत जीवित रहने के लिए संघर्ष करने में व्यस्त रहे। प्रेमचन्द के शब्दों में ही:—

"मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें गड्ढे तो कहीं-कहीं हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है"।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का जीवन कैसा था और जीवन उनकी दृष्टि में कैसा था। प्रेमचन्द का जन्म ऐसे परिवार में हुआ जहां अभाव का ही नाम बचत था तथा साधारणतया इच्छाओं की पूर्ति करना एक समस्या थी। ऐसे घरों-परिवारों में बच्चे के जो तौर-तरीके तथा स्वभाव बन जाता है, उसका पूर्ण

ज्ञान प्रेमचन्द की कहानियों से होता रहता है। इन्हीं अनुभवों ने उन्हें जीवन के प्रति एक नया दृष्टि कोण प्रदान किया। यथार्थ जीवन के अभाव मानव को कल्पनाशील बना देते हैं। जीवन में जो पदार्थ सरलतापूर्वक उपलब्ध नही है उन्हें मानव कल्पना लोक में सरलतापूर्वक पा लेने के लिए प्रयत्न करता है। प्रेमचन्द ने बाल्यावस्था में जिन महलों और कल्पना के सुन्दर पदार्थों का स्वप्न देखा था वे आजीवन नसीब न हुए पर इसी कल्पनाशीलता ने उन्हें नवीन और सुंदर जीवन का निर्माता बनादिया।

किसी साहित्यकार का जीवन दर्शन अध्ययन करने के पूर्व उसके जीवन की उन घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है जिन्हों ने उसके जीवन की धारा में परिवर्तन उपस्थित कर दिया है। प्रेमचन्द के जीवन की सबसे बड़ी घटना थी उनकी माता का देहावसान। उनके उपन्यासों और अनेक कहानियों में ऐसे बालकों का करुण चित्रण हुआ है जो मातृ प्रेम से वंचित हैं। इन कहानियों में जैसे प्रेमचंद का हृदय रुदन करता हुआ प्रतिश्रुत होता है। प्रेमचंद जी लिखते हैं—"जब मैं आठ साल का था तभी मेरी मां बीमार पड़ी छः महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पंखा हाँका करता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बड़े थे, दवा के प्रबन्ध में रहते थे। मेरी बहिन ससुराल में थी। उनका गौना भी होगया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सोजाने पर मैं उसे खोलता था। माँ के मरने के आठ-दस दिन पहले मेरी बहिन आई। घर से मेरी दीदी भी आई। जब मेरी माँ मरने लगी, तो मेरा, मेरी बहिन का तथा बड़े भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ में देकर बोली—ये तीनों बच्चे तुम्हारे हैं। बहिन, पिता

तथा बड़े भाई सब रो रहे थे। पर मैं कुछ भी नहीं समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहिन अपने घर चली गई दादी, भैया और पिता जी रह गये। दो—तीन दिन बाद दादी भी बीमार होकर लमही चली गई। मैं भैया और पिता जी रह गये। भैया दूध में शक्कर डाल कर मुझे खूब पिलाते थे। पर माँ का वह प्यार कहाँ? मैं एकांत में बैठकर खूब रोता था। ....''

मातृ-स्नेह से वंचित बालकों का मार्मिक चित्रण 'प्रेरणा' 'अलग्योझा' 'घर जमाई' कहानियों तथा 'कर्मभूमि' उपन्यास में बड़ी सफलता पूर्वक हुआ है। कहना न होगा ये सभी रचनाएं प्रेमचन्द की आत्म कथा सी प्रतीत होती हैं। माता की मृत्यु के अनंतर उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। इस घटना ने प्रेमचंद की जीवनधारा को एक दिशा में मोड़ दिया। सौतेली माँ का विविध प्रकार का अनुभव प्रेमचंद साहित्य की महत्वपूर्ण निधि है। विमाता—विषयक अनुभव अत्यधिक यथार्थ से पूर्ण है। 'सौतेली माँ' कहानी बहुत अंश में आत्मकथात्मक है और 'निर्मला' में तो विमाता के विशद चित्र व्यक्त हुए हैं। प्रेमचंद के जीवन को प्रभावित करने वाली तृतीय घटना उनका प्रथम विवाह था। इस विवाह के सम्बन्ध में उन्हों ने स्वतः लिखा है"............फिर मेरी स्त्री की विदाई का समय आया। कई रोज का अरसा होगया था, ऊँट-गाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँट-गाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उम्र में वे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया।" इस अनमेल विवाह का वही फल हुआ जो सामान्यतया हुआ करता है। प्रेमचंद

का साहित्य अनमेल विवाह, के चित्रों से भरा पड़ा है। लेखक ने अनमेल विवाह के कारण और प्रभाव का सम्यक् चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त लेखक ने तलाक नियम की आवश्यकता और अनिवार्यता पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं जिनका सम्बन्ध अनमेल विवाह से बहुत अंश तक है। इसके अनन्तर प्रेमचंद ने विधवा विवाह किया। यह भी उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना थी। आज से पैंतालीस वर्ष पूर्व विधवा विवाह सचमुच साहस का काम था। 'सोज़ वतन' का प्रकाशन सन् १९०९ ई० में हुआ था। इस समय देश में बंग-भंग आन्दोलन चल रहा था। इस ग्रन्थ का-प्रकाशन प्रेमचंद के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही लेखक पर विपत्ति टूट पड़ी और उसकी यहरचना जब्त हो गई। ग्रन्थ जब्त होकर अग्नि देवता के भेंट कर दी गई। परन्तु इस घटना ने प्रेमचन्द के जीवन दर्शन में एक महान परिवर्तन समुपस्थित कर दिया। प्रेमचन्द को इस बात का आभास मिल गया कि अंग्रेजी नौकरशाही के प्रति असन्तोष प्रगट करने, उसका विरोध करने, दमन और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने तथा जनता को जाग्रत करने के लिए साहित्य एक मजबूत हथियार है। इस घटना ने प्रेमचंद के जीवन धारा में अंग्रेजी नौकरशाही के प्रति कटु भावनाओं का बीजारोपण कर दिया।

इसके पश्चात् प्रेमचंद के जीवन को प्रभावित करने वाली एक और घटना का उल्लेख आवश्यक है। सन् १९२०-२१ में देश में असहयोग आन्दोलन ज़ोर पर था। जलियां वाला बाग का हत्याकाण्ड हो चुका था। उन्हीं दिनों महात्मागांधी ने गोरखपुर का दौरा किया। प्रेमचंद ने लिखा है "..................गाजी मियां के मैदान में अच्छा प्लेट फार्म तैयार किय गया। दो लाख से कम का जमाव न

था। क्या शहर क्या देहात श्रद्धालु जनता दौड़ी चली आती थी। ऐसा समारोह अपने जीवन में मैंने कभी न देखा था। महात्मा जी के दर्शन का यह प्रताप था कि मुझ जैसा मरा हुआ आदमी भी चेत उठा। उसके दो ही चार दिन बाद मैंने अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया।" उपयुक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद गांधी के व्यक्तित्व से एक समय अत्यधिक प्रभावित थे (यद्यपि यह प्रभाव अधिक समय तक स्थायी नहीं रहा)। अतः कुछ समय के लिए प्रेमचन्द का जीवन दर्शन गांधीवादी विचार धारा से प्रभावित रहा। उपर्युक्त इन घटनाओं ने प्रेमचन्द के जीवन को बराबर प्रभावित किया। इन्हीं घटनाओं की प्रतिच्छाया प्रेमचन्द की रचनाओं में बारम्बार परिलक्षित होती है। इनके अतिरिक्त प्रेमचन्द को मानव जीवन की विभिन्न परिस्थितियां–गरीबी, शोषण, अत्याचार आदि प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती रही हैं।

प्रेमचन्द के जीवन दर्शन को प्रभावित करने वाली घटनाओं और व्यक्तित्वों का अध्यन करने के अनन्तर यह देखना आवश्यक है कि प्रेमचन्द की दृष्टि में जीवन क्या था अथवा उन्होंने जीवन को किस दृष्टि कोण से देखा और उनके अनुसार जीवन की क्या विशेषता होनी अपेक्षित थी। इस अध्ययन से जीवन दर्शन विषय का अध्ययन और पूर्ण और पुष्ट हो सकेगा। प्रेमचन्द इस बात के निरन्तर समर्थक रहे कि मानव जीवन जिन तंतुओं से विनिर्मित है वे अत्यधिक कोमल हैं अतएव उनकी सुरक्षा अत्यावश्यक है:—

"वह (जीवन) क्या पुष्प से कोमल नहीं–जो वायु के झोंके सहता है और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल

प्रेमचन्द
डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती, और लिपटी रहती हैं ? क्या वह पानी के बबूलों से कोमल नहीं जो जल की तरंगों पर तैरते हैं और टूटते नहीं ? संसार में और कौन सी वस्तु इतनी कोमल, इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है जिसे एक व्यंग, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, और घातक है। और इस भित्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने वृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है।"

(रंगभूमि पृष्ठ ८५५)

प्रेमचन्द की दृष्टि में जीवन कितना कोमल है। यही कोमलता दौर्बल्य की जननी है जो मानव चरित्र पर छा जाती है। यही दुर्बलता दुख का मूल कारण है। पर कोमलता सभी मनुष्यों में सदैव दुर्बलता का ही सृजन नहीं करती। यही कोमलता मानव जीवन की सौंदर्य विधायिनी शक्ति भी तो है और प्रेम, त्याग तथा बलिदान आदि दैवी गुण इसके आधार पर उत्पन्न और विकसित होते हैं। जीवन भव्य तभी होता है जब ये कोमल पक्ष सर्वथा विकसित होते रहें।

मानव जीवन का लक्ष्य और आदर्श बड़ा उच्च एवं वृहद है। परन्तु वह सदैव अकांड तांडवों में व्यस्त रहता है। भयानक से भयानक कार्य करने में भी वह लेश मात्र संकोच अनुभव नहीं करता हैं। विश्व भर में स्थान स्थान पर भिन्न प्रकार के वात्याचक संचालित हैं और वह उन्हीं में सदैव पड़ा रहता है। संसार में विद्रोह, संघर्ष, हत्या और षड़यन्त्रों में वह सलग्न रहता है। दुरभिलाषाएं बिजली की भांति उसके हृदय को आलोकित किया करती हैं। भयानक भावुकता और उद्वेग जनक अन्तःकरण लेकर वह संसार में नितांत व्यस्त रहता है। प्रकृति का सौंदर्य, पक्षियों का कलरव उसमें सरसता

और सरलता का संचार करने में असमर्थ है। वह विचार हीन विवेक शून्य होकर दूसरों का शोषण किया करता है। प्रेमचन्द की दृष्टि में जीवन का लक्ष्य खाना-पीना मात्र नहीं है। इस खाने पीने के लिए ही वह जीवित नहीं है। इस विश्व में इस की सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी मानव पशुओं की तुलना में अधिक विकसित, अधिक उन्नत होना चाहिए। प्रेमचंद का अमरकांत अपने पिता समरकांत से कर्मभूमि में कहता है :—

"दादा आपके घर में मेरा इतना जीवन नष्ट होगया, अब मैं उसे और नष्ट नहीं करना चाहता। आदमी का जीवन केवल खाने और मर जाने के लिए नहीं होता, न धन-संचय उसका उद्देश्य है। जिस दशा में मैं हूँ वह मेरे लिए असह्य हो गई है। मैं एक नये जीवन का सूत्रपात्र करने जा रहा हूँ, जहाँ मज़दूरी लज्जा की वस्तु नहीं है। जहां, स्त्री पति को नीचे की तरफ नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती, बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का संचार करती है। मैं रूढ़ियों मर्यादाओं का दास बनकर नहीं रहना चाहता। आपके घर में मुझे नित्य बाधाओं का सामना करना पड़ेगा, और उसी संघर्ष में मेरा जीवन समाप्त हो जायेगा।"

स्पष्ट है कि प्रेमचंद जीवन के लिए स्वावलम्बन भविष्य में विश्वास तथा कर्मठता आवश्यक मानते थे। प्रेमचंद जी परिस्थितियों में सदैव संघर्ष करते रहे, हताश नहीं हुए। प्रेमचन्द की दृष्टि में जीवन एक खेल है और प्रत्येक व्यक्ति एक खिलाड़ी है। इस जीवन रूपी खेल के मैदान में वही खिलाड़ी विजयी होता है जो उत्साह से पूर्ण है और संयुक्त-मोर्चा बनाकर विपत्त का सामना करता है प्रेमचन्द का सबसे वीर एवं कर्मठ पात्र सूरदास कहता है :—

"बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते न बना, तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो, तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हांफने लगता है और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते हैं, गाली गलौज मारपीट करते हैं, कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो हम अनाड़ी है।"

प्रेमचन्द जीवन में जहां ऐक्य, सद्भावना उत्साह को आवश्यक मानते थे वहां उसके साथ ही जीवन में खिलाड़ी की सी भावना (Sportsman Spirit) और ईमानदारी को भी जीवन के लिए अनिवार्य समझते थे। जीवन संघर्ष का ही दूसरा नाम है। जब जीवन में प्रत्येक वस्तु-चाहे वह जीवित रखने के लिए आवश्यक हो, या आराम के लिए सहायक हो-संघर्ष से ही उपलब्ध होती है तो संघर्ष से भयभीत होने के लिए कोई स्थान नहीं है। जीवन के इन संघर्षों का आधार यदि सत्यता हो तो हमारे हृदय में कितना बल रहता है। जिस प्रकार असत्यता, बेईमानी और छल पूर्वक जीते हुए खेल में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है ठीक उसी प्रकार जीवन क्षेत्र में धाँधली और बेईमानी द्वारा प्राप्त विजय कल्याणप्रद नहीं होती है। मानव का ऐसा जीवन विडम्बना नहीं तो क्या है जिसके लिए उसे निम्न प्रवृत्तियों का आश्रय ग्रहण करना पड़े। आकाश में जिस समय शीतल शुभ्र-शरद-शशि विलास कर रहा हो और अपनी स्निग्ध चंद्र-किरण-द्वारा जगत को सरलता का पाठ दे रहा हो, उस समय भी मनुष्य छल और असत्य साधनों के द्वारा स्वशत्रु या विपक्षी को पराजित करने के लिए योजनाएँ बनाने में व्यस्त हो, यह कितनी हेय, घृणित और अपदस्थ प्रवृत्ति है। प्रेमचन्द, योगेश्वर श्रीकृष्ण

के निष्काम कर्मयोग (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन) को जीवन के लिए पूर्ण रूप से आवश्यक मानते थे। इस सिद्धांत में विश्वास रखे बिना मानव ईमानदारी और सत्यता का पक्ष नहीं ग्रहण कर सकता है। जीवन संग्राम में खेलते समय दृष्टि जीत पर रहे पर उसके लिए अपने व्यक्तित्व को निम्न बना देना भी अच्छा नहीं है। रंगभूमि में सूरदास के कण्ठ से फूटे हुए प्रेमचन्द के ये शब्द पठनीय हैं:—

"हमारी बड़ी भूल यही है कि हम खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धांधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आएगा खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबड़ाये नहीं, ईमान को न छोड़े। जीत कर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी नहीं। यह हार जीत तो जिन्दगी के साथ है।" (रंगभूमि पृष्ठ ६२२)

इसी आशय का एक पत्र प्रेमचन्द ने मुंशी दयानारायण निगम (सम्पादक--ज़माना) को लिखा था। इस पत्र में प्रेमचन्द का जीवन विषयक दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट होता है अतः पठनीय होगा।

"........खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ का मुस्तहिक होता है, जो जीत से फूलता नहीं, और हार में रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है, और हारे तब भी खेलता है। जीत के बाद यह कोशिश होती है कि हारे नहीं, हार के बाद जीत की आरजू होती है। हम सब के सब खिलाड़ी हैं मगर खेलना नहीं जानते एक बाजी जीती, एक गोल जीता, तो हिप-हिप-हुर्रे के नारों से आस्मान गूँज उठा। टोपियां अस्मान में उछलने लगीं। भूल गये कि यह जीत दायमी[1] फतेह की गारंटी नहीं है, मुमकिन

---

[1]स्थायी

है कि दूसरी बाजी में हो। अलहज़ा[2] हारे तो पस्त हिम्मती पर कमर बांध ली, रोये किसी को धक्के दिये, फाउल[3] खेला और ऐसे पस्त हो गये गोया फिर जीत की सूरत देखना नसीब न होगी ऐसे ओछे, तंग नजर आदमी को मैदान में खड़े होने का भी मजाज़[4] नहीं। उसके लिए गोशाये तारीक[5] है, और फिक्रे-शिक्म[6]। बस वही उसकी जिन्दगी की कायनात[7] है। हम क्यों ख्याल करें कि हमसे जिन्दगी ने बेवफाई की ! खुदा का शिकवा क्यों करें ? क्यों इस ख़याल से मलूल[8] हों कि दुनियां हमारी नियामतों से भरी थाली को, हमारे सामने से खींच लेती है। क्यों इस फिक्र से मुतव्वहश[9] हों कि कज़्ज़ाक़ हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है। जिंदगी को इस नुक्तए-निगाह[10] से देखना अपने इत्मीनान-कल्ब[11] से हाथ धोना है। बात दोनों तरह एक ही है। कज़्ज़ाक[12] ने छापा मारा तो क्या ? हार में सारे घर की दौलत खो बैठे तो क्या ? फ़र्क सिर्फ यह है कि एक जब्र है और दूसरा अख्तयार। कज़्ज़ाक ज़बर्दस्ती माल पर हाथ बढ़ाता है, लेकिन हार जबर्दस्ती नहीं आती। खेल में शरीक होकर हम खुद हार और जीत को बुलाते हैं।······खेल में हारना और जीतना मामूली बात है। जो खेल में शरीक होगा वह बखूबी जानता है कि हार और जीत दोनों ही सामने आयेंगी। इसीलिए उसे हार से नामूसी[13] नहीं होती, जीत से फूला नहीं समाता। हमारा काम तो सिर्फ खेलना है, खूब दिल लगा कर खेलना, खूब

---

[2]किन्तु
[3]गलत
[4]अधिकार
[5]अंधेरा-कोना
[6]पेट की चिंता
[7]दुनिया
[8]उदासीन
[9]परेशान
[10]दृष्टिकोण
[11]मन की शांति
[12]डाकू
[13]निराशा

जी तोड़ कर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम फानैन[1] की दौलत खो बैठेंगे; लेकिन हारने के बाद पटखनी खाने के बाद गर्दा झाड़ कर खड़े हो जाना चाहिए और फिर खम ठोक कर हरीफ़[2] से कहना चाहिए कि एक हार और, ... हार और जीत दोनों ही मैदान में है, ...," यह "कर्मण्येवाधिकारस्ते.........." का सिद्धांत 'कर्मभूमि में' भी व्यक्त हुआ है:—

"जो काम अच्छी नियत से किया जाता है, वह ईश्वरार्थ होता है। नतीजा कुछ भी हो। यहां का अगर कुछ फल न मिले, तो भी यहां का पुण्य तो मिलता ही है।

(कर्मभूमि पृ० ५५१)

प्रेमचन्द को एक खिलाड़ी का जीवन सिद्धांत बहुत प्रिय था। उन्होंने इस सिद्धांत का प्रसार 'कर्मभूमि' में सूरदास के माध्यम से कराया है। सूरदास वास्तव में खिलाड़ी, पूर्ण खिलाड़ी प्रतीत होता है जिसमें हार और जीत की वासना नहीं है। उसे न हारने का गम है न जीतने का हर्ष। प्रेमचन्द इसी प्रकार का जीवन चाहते थे। सूरदास के निम्नलिखित शब्द पठनीय हैं:—

"सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्यौरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा! खेल हँसने के लिए हैं, दिल बहलाने के लिए हैं, रोने के लिए नहीं......।"

जीवन-एक महान रहस्य है। विज्ञान उच्च से उच्च अनुसंधान करले पर मानव जीवन और मृत्यु यही दो उसकी उन्नति के सीमा

---

[1] संसार [2] प्रतिद्वन्दी

स्तम्भ (Milestone) हैं। विज्ञान जीवन और मृत्यु के परदे के पीछे झांकने का प्रयास नहीं कर सकता। जब जब उसने यह दुस्साहस किया तब तब वह असफल रहा है। यही दशा दार्शनिक की है। कल्पना और चिन्तन के आधार पर वह अनुमान भले ही लगा ले पर मृत्यु का रूप रंग और रहस्य दार्शनिक के चिन्तन क्षेत्र से परे एवं दूर है। अनादिकाल से जीवन का जो क्रम चला आ रहा है वह चलता रहेगा सृष्टि के अन्त तक। संसार की जो व्यवस्था चली आ रही है वह अपरिवर्तनशील है। यहां की सड़ी गली परिपाटियों को बदलकर सुव्यवस्था स्थापित कर देना प्रत्येक सामाजिक का कर्तव्य है पर उनके प्रति कुढ़ना, संतप्त रहना और दुखी होना उचित नहीं है। जब लोक—परलोक असार है तब जीवन हँसकर काट देने योग्य नहीं तो और क्या है ? जब संसार में जीना ही है तो हंसकर काटना अधिक श्रेयस्कर है। प्रेमचन्द जी के शब्दों में ही:—

"इस जीवन से परे······अनन्त आकाश के अतिरिक्त और कुछ नही है। लोक असार हैं परलोक भी असार हैं, जब तक जिन्दगी है, हँस खेलकर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। संसार सारा इसी भांति रहा है और इसी भाँति रहेगा।··········बड़े बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े तत्ववेत्ता, ऋषि, मुनि मर गए, और कोई भी रहस्य न पा सका। हम जीवमात्र हैं, और हमारा काम केवल जीना है।" (रंगभूमि पृ० ६३०)

प्रेमचन्द जी बड़े हास्य प्रिय थे। उनके शब्दों में "जीवन को सुखी बनाना ही भक्ति और युक्ति है, यदि तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते तो तुम इन्सान नहीं हो।" एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "मेरे जीवन का क्या आदर्श है, आपको यह बतला देने

का मोह मुझसे नहीं रुकता ।। मैं प्रकृति का पुजारी हूं और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूं, जो प्रसन्न होकर हँसता,, दुखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुख और सुख दोनों का दमन करते हैं जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है सरल, स्वच्छन्द, जहां कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं।·········जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और मोक्ष है। ज्ञान कहता है, ओठों पर मुसकराहट न आवे, आंखों में आंसू न आवे। मैं कहता हूँ अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते, तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं है, कोल्हू है।,, स्पष्ट है कि इन पक्तियों में प्रेमचन्द ने कृत्रिमता विहीन, वास्तविक जीवन को अधिक महत्वपूर्ण माना है। मनुष्य का प्राकृतिक रूप ही उसकी वास्तविक निधि है। कुत्सा, ईर्ष्या, द्वेष की ज्वाला में दग्ध जीवन भी कोई जीवन है।

जीवन को सुखी बनाने के लिए हँसना-खेलना और जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा और सुसंस्कारों की अत्यधिक आवश्यकता है। जिस मनुष्य को शिक्षा नहीं मिली वह संस्कार किस प्रकार सुधारेगा, और जिसके संस्कार नहीं परिष्कृत हैं, वह समाज का परिमार्जन कभी भी नहीं कर सकता है। समाज के लिए शिक्षा अत्यधिक आवश्यक है। शिक्षा मानव समाज में अभिरुचि को परिष्कृत करके उसे जीवित रहने की सुन्दर शैली सिखाती है। प्रेमचन्द उस शिक्षा को अनिवार्य मानते थे जो जीवन के विकास में योग दे सके। शिक्षा और डिग्रियों में अंतर है इसलिए प्रेमचन्द जी कहते हैं:—

"जीवन को सफल बनाने के लिए शिक्षा की जरूरत है डिग्री की नहीं।"

शिक्षा और डिग्रियों में यही अंतर है कि एक संस्कार को परिष्कृत करता है और द्वितीय (डिग्रियां) शिक्षा का मापदण्ड मात्र है। परन्तु आज की शिक्षा प्रणाली में इन डिग्रियों को व्यवसायिक दृष्टि से देखा जा रहा है। जीवन के संघर्षों के लिए आज डिग्रियों को जो अनावश्यक महत्व प्रदान किया जा रहा है उसके कारण उसकी महत्ता और पवित्रता विनष्ट होती जा रही है। आज डिग्रियाँ संस्कारों के विकास और उत्थान का साधन और कारण नहीं बन पाती है। इसी कारण प्रेमचन्द जी ने डिग्रियों की इतनी आलोचना की है। प्रेमचंद के अनुसार "हमारी डिग्री है—हमारा सेवा भाव, हमारी नम्रता हमारी जीवन की सरलता। अगर यह डिग्री नहीं मिली अगर हमारी आत्मा जागरित नहीं हुई तो कागज की डिग्री व्यर्थ है।"

मानव जीवन का परम लक्ष्य है सुख प्राप्त करना, शांति और स्वाभिमान पूर्वक जीवन के दिन पूरे करना। इसके विविध साधन हैं। कोई इन उपायों की प्राप्ति के लिए योग मार्ग का और निवृत्त मार्ग का अनुसरण करता है और कोई भोग एवं प्रवृत्ति मार्ग को ग्रहण करके इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है। जीवन का परम लक्ष्य है कि मानव को ये सभी एक साथ उपलब्ध हों। पर ऐसा सौभाग्यशाली कौन है? जिस समाज की नीव धन है, जहाँ धन के आधार पर गरीबी और अमीरी नापी जाती है, वहाँ इनको प्राप्त करने वाला कोई धनी व्यक्ति ही हो सकता है। जब धन ही समाज के निर्माण का आधार है तो वही विजयी होगा, वही सुखशाली होगा जिसके

पास धन है वह धन से विद्या, सम्मान ऐश्वर्य और क्या नहीं खरीद सकता है ? परंतु प्रेमचंद धन को ही सर्वस्व और उन्नति का आधार नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीवन के लिए आत्मबल, स्वाभिमान, संवेदना परम आवश्यक है, उनके अनुसार प्रतिहिंसा से दग्ध और चारित्रिक हीनता से अभिशप्त जीवन भी कोई जीवन है ? उन्हीं के शब्दों में:—

"जिसके आत्मा के बल नहीं है, अभिमान नहीं है वह और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद न आती हो, जिसके दुःख पर सब हँसे और रोने वाला कोई न हो जिसकी चोटी दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग बिलास के नशे में अपने को बिलकुल भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों के खून चूसता हो उसे मैं सुखी नहीं कहता। वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है।"

प्रेमचन्द का समग्र जीवन आत्म सम्मान, आत्म प्रतिष्ठा और उच्चादर्शों के पालन में व्यतीत हुआ था। इसी कारण वे जीवन के हेतु इन तत्वों को आवश्यक मानते हैं। प्रेमचन्द ऐसे जीवन को विडम्बना मानते हैं जिसके लिए दिन रात लड़ना पड़े। दांत पर दांत रखकर मुट्ठियों को बांधे हुए हृदय में छल और प्रपंच के वात्याचक्रों को स्थान देना जीवन के मूल्य और महत्ता को विनष्ट कर देना है। छल और कपट का परित्याग करके संवेदना पूर्ण शाँत क्षण ही जीवन में स्पृहणीय है। प्रेमचन्द क्या उनका होरी भी विडम्बनाओं से ओत प्रोत जीवन को हेय और निम्न समझता है। वह कहता है:—

"चार दिन की जिन्दगी में क्यों किसी से छल कपट करूं। प्रेमचन्द इस बात के आद्योपांत समर्थक रहे कि मनुष्य का

स्वावलम्बी होना चाहिए। दूसरों के अर्जन पर जीवन व्यतीत करना समाज के प्रति एक बड़ा भारी अत्याचार है। किसी भी व्यक्ति को दूसरे के श्रम और शोषण पर निर्भर रहने का कोई अधिकार नहीं है। उनके प्रायः समस्त उपन्यासों की विचारधारा का यही केन्द्र विन्दु है। गोदान के उपजीवी रायसाहब के मुंह से भी प्रेमचन्द ने इसी विचार की घोषणा कराई है:—

"मैं इसे स्वीकार करता हूं कि किसी को दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। कर्म करना प्राणी-मात्र का धर्म है। समाज की ऐसी व्यवस्था जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें, कभी सुखद नहीं हो सकती, पूँजी और शिक्षा जिसे मैं पूंजी ही का एक रूप समझता हूँ, इनका किला जितनी जल्दी टूट जाय, उतना ही अच्छा है। जिन्हें पेट की रोटी मुअस्सर नहीं, उनके अफसर और नियोजक दस-दस पाँच-पांच हजार फटकारें यह हास्यास्पद है और लज्जास्पद भी।"

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि ये प्रेमचन्द के अपने भाव हैं जो रायसाहब के मुख से व्यक्त हुए हैं। समाज के लिए कर्मठ और स्वावलम्बी व्यक्तियों का विशेष महत्व है। स्वार्थ के अनुमोदन के लिए चाहे कोई व्यक्ति इस सिद्धांत का विरोध करे परन्तु समस्त अनाचार, दुराचार और अभियोगों का मूल कारण उपजीवी बनना है। दूसरे के श्रम पर फूलना फलना राष्ट्र की शक्ति को क्षीण कर देना है।

भूत की स्मृतियाँ मधुर एवं कटु दोनों प्रकार की होती हैं। यदि ये स्मृतियाँ मधुर हुईं और मनुष्य का वर्तमान जीवन कटु हुआ तो जीवन निरन्तर विषाद एवं व्यथाओं का नीड़ बना

रहता है। और यदि भूत की स्मृतियां कटु हुईं तो भी उनका संस्मरण जीवन में कटुता का संचार करता रहता है। इस प्रकार भूत कालीन स्मृतियों की प्रतिक्रिया अधिक स्वस्थ नहीं होती है। इसी प्रकार भविष्य की चिन्ता मनुष्य के हृदय में संकल्प विकल्प और अन्तर्द्वन्द्व तंत्र करती है। मनुष्य भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए भांति २ से क्रियाशील बना रहता है। इन झमेलों में उसे कही कहीं दूसरों के समक्ष स्वार्थ साधना के लिए निम्न प्रवृत्तियों को धारण करना पड़ता है। भूत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता दोनों का ही प्रभाव जीवन पर अच्छा नहीं पड़ता है इसीलिए प्रेमचन्द जीवन के लिए वर्तमान काल सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। मनुष्य को जीवन के वर्तमान काल के प्रति सबसे अधिक सतर्क रहना आवश्यक है। कर्मठता से यदि हम अपने वर्तमान जीवन को उचित मार्ग पर ले जाने में समर्थ हैं तो फिर भविष्य स्वतः उज्ज्वल और आशापूर्ण है। प्रेमचन्द के मत से "मैं भूत की चिंता नही करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब कुछ है। भविष्य की चिंता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हम में जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है।"

जीवन के लिए 'लाग' का बड़ा महत्व है। यह प्रवृत्ति अज्ञात शक्ति के समान मानव को संघर्ष एवं कर्तव्य के लिए प्रोत्साहित करती रहती हैं। 'लाग' को प्रेमचंद जीवन के लिए एक अनिवार्य शक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं:—

"वही तलवार, जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को भी काट सकती है। मानव जीवन में लाग बड़े महत्व की वस्तु है। जिसमें लाग है, वह बूढ़ा भी होकर जवान

है। जिसमें लाग नहीं, गैरत नहीं, वह जवान होकर भी मृतक है।"

प्रेमचन्द संकीर्ण साम्प्रदायिकता, अंधविश्वास तथा विवेक शून्य धार्मिकता के हृदय से विरोधी थे। उनके साहित्य में हिंदू और मुसलमान, सवर्ण और अन्त्यज, धनी और निर्धन का वही चित्र दृष्टि गोचर होता है जो कबीर, दादू, नानक, मलूक और सुन्दर दास आदि के साहित्य में १४ वीं से १७ वीं शताब्दी तक चित्रित हुआ है। प्रेमचन्द ने हिंदू और मुसलमान को सहोदर माना है और दोनों की जननी है एक भारतमाता। दोनोही अपनी जन्म भूमि में समान स्वत्वाधिकारी हैं। दोनो ही समान और दोनों ही महान्। निम्न प्रवृत्तियों के रूप में व्याप्त शैतान को उकसा कर उन्हें परस्पर लड़ा कर एक दूसरे के रक्त का पिपासु बना दिया जाता है। प्रेमचन्द के शब्दों में:—

"कर्तव्य के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान का भेद नहीं, दोनों एक ही नाव में बैठे हुए हैं, डूबेंगे तो दोनों डूबेंगे; बचेंगे तो दोनों बचेंगे।"

इसी प्रकार प्रेमचन्द का पात्र कर्म भूमि में कहता है:—

"मैं जात पाँत नहीं मानता, माता जी। जो सच्चा है, वह चमार भी हो, तो आदर के योग्य है; जो दगाबाज़, झूठा, लम्पट हो, वह ब्राह्मण भी हो तो आदर के योग्य नहीं।" प्रेमचन्द जी का विशाल हृदय इन संकीर्णताओं से परे था और वे इन्हीं गुणों के कारण इतने महान हुए।

प्रेमचन्द को आत्मा की चेतना में अटल विश्वास है। उनकी दृष्टि में मानव हृदय का विकसित रूप ही आत्मा है।

सुशिक्षा, सुसंस्कार के द्वारा आत्मा में चैतनता सजीव रहती है और जब आत्मा चेतन है तो फिर अविवेक पर विवेक, असद् पर सत्य, अज्ञान पर ज्ञान सदैव विजयी होता है। मानव सद्बुद्धि से प्रेरित होकर कर्त्तव्य भावना के प्रति जागरूक रहता है। प्रेमचन्द को इसी आत्मा की चेतना का बड़ा भरोसा और विश्वास था। उनके उपन्यासों में ऐसे अनेक पात्र अभिव्यक्त हुए हैं जिनकी आत्म-चेतना और हृदय की विशालता विपरीत गामी और निम्न गामी-प्रवृतियों पर विजय प्राप्त करने के लिए बल और साहस देती है। सूरदास अमर, सलीम, होरी, बलराज आदि ऐसे पात्रों में स्मरणीय हैं। इन पात्रों में सभी वर्गों के व्यक्ति आ जाते हैं। सूरदास अशिक्षित और ग्रामीण है परन्तु उसका महाप्राणत्व किसे नहीं प्रभावित करता है। इसी लिए अपने साहित्य में प्रेमचन्द ने जीवन के लिये आत्मा की चेतना पर जोर दिया है।

आज के संसार में आध्यात्मिकता का एक विशेष संकुचित दृष्टि से प्रयोग होता जा रहा है। आज आध्यात्मिकता का वास्तविक एवं उज्वल रूप कृत्रिमता के आवरण में ढक गया है। वाह्याडम्बर, बाह्यविचार, प्रदर्शन आदि आध्यात्मिकता के अंग बन गये हैं। इसी लिये प्रेमचन्द में आध्यात्मिक चेतना विलुप्त हो गई थी। जप, पूजा, माला, एकादशी, व्रत आदि का उन्होंने जी भर कर उपहास किया है। गोदान के दातादीन और मातादीन महराज से न कोई एकादशी छूटी, न किसी का बनाया भोजन किया पर जीवन पर्यन्त चमारिन से सम्बन्ध रहा और फिर भी वे ब्राह्मण ही कहलाते रहे। अन्त में एक दिन चमारों ने पकड़ कर उनका धर्म भ्रष्ट कर डाला। परन्तु काशी में कुछ धन के व्यय से वे फिर ब्राह्मण हो गये। प्रेमचन्द

को इस प्रकार के धर्म और इस कोटि की धार्मिकता में लेश मात्र श्रद्धा नहीं थी। आज जैसे संघर्ष प्रधान संसार में आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी कारण प्रेमचन्द मार्क्स के वस्तुवादी दर्शन से बहुत प्रभावित थे। मानवता की सेवा करना, उत्पीड़ित को अभय दान देना, क्षुधित के कष्ट का निवारण करना, शोषण को समाप्त करना आध्यात्मिक साधना से किसी प्रकार कम नहीं है। तथ्य तो यह है कि होरी जैसे सतत् संघर्ष सलग्न व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक साधना के लिए समय और शक्ति कहां शेष है? प्रेमचन्द के पात्र ईश्वर की कल्पना के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और आत्मा की सेवा को ही ईश्वराधना मानते हैं। मार्क्स वाद का भौतिक दर्शन एवं निरीश्वरवाद प्रेमचन्द का परितोष करने में सफल और समर्थ है। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व में वही काठिन्य, दृढ़ता और विश्व बन्धुत्व की भावना लहर ले रहीं हैं जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए आवश्यक है।

प्रेमचन्द जीवन में सन्तुलन के समर्थक थे। आज असंतुलन और समन्वय हीनता के कारण ही सार्वभौमिक अधःपतन समुपस्थित है। असन्तुलित जीवन का प्रभाव सर्वहारा वर्ग पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है और अन्ततोगत्वा यही वर्ग अकारण पिस रहा है। असन्तुलित जीवन के कारण समाज जहां उच्च वर्गों का प्रत्येक दशा में अभिनन्दन करता है वहाँ दूसरी ओर उपेक्षित निम्न वर्ग दुर्भाग्य के दिन जीवन पर्यन्त व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की भावनाएँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राष्ट्र के लिए स्वस्थ्यकर कदापि नहीं हो सकती हैं।

मार्क्स के भौतिक दर्शन तथा निरीश्वरवाद ने प्रेमचन्द को

मानव समाज के अध्ययन के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान की। उन्होंने सामाजिक और मानव की व्यक्तिगत विषमताओं का अध्ययन किया। मानव समाज विषमताओं और असमानताओं से कितना अभिशप्त है वह उन्होंने निकट के एक आलोचक की भांति देखा और विश्लेषण किया। कितना बड़ा अत्याचार है कि एक-प्राणी जीवन पर्यन्त रोटी के लिए युद्ध करता रहे और फिर भी भूखा ही ऊर्ध्वश्वासें लेता हुआ इस संसार से विदा हो जाय और दूसरा व्यक्ति जो उसका पड़ोसी है अन्न की कोठियों का अधिकारी बना हुआ चोरबाजारी करता रहे। कितना बड़ा अभिशाप है कि धनी महाजन का पुत्र धन से शिक्षा की अंतिम डिग्री भी खरीद ले और निर्धन किसान मज़दूर का पुत्र आकांक्षा रखता हुआ भी, स्कूल की फीस न अदा कर सके। कितनी बड़ी विषमता है कि प्रकाशक की संतान रेशमी वस्त्र पहने और संघर्षरत श्रमजीवी लेखक के बच्चे को मारकीन के कुरते भी न नसीब हों। यह महान् अन्याय है कि श्रमजीवी के "बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें और पेट-भर भोजन न मिले और एक एक अफसर को दस-दस हज़ार की तलब मिले। दस तोड़े रुपये हुए। गधे से भी न उठे।" तथा "एक आदमी दस रुपये में गुज़र करता है, दूसरे को-दस हज़ार चाहिए ?.........एक आदमी पंखे की हवा खाये और खसखाने में बैठे, और दूसरा आदमी दोपहर की धूप में तपे, यह न न्याय है, न धर्म-यह धांधली है।" इन समस्याओं पर विचार करते हुए प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह असमान वितरण, असमान सुविधाएँ, और वर्ग विभाजन बन्द होना चाहिए। इन असमानताओं के कारण शोषण मोटा हो रहा है। दूसरे की कमाई खाना,

उपजीवी बनना अन्याय ही नहीं वरन अभियोग है। पर यह धाँधली उस समय तक चलेगी जब तक जनता की आंखें बन्द हैं।" और धाँधली को बन्द करने के लिए और जनता को जाग्रत करने के लिए प्रेमचन्द ने साम्यवादी विचार धारा को जीवन के लिए उपयोगी समझा। जीवन के क्षेत्र में सब समान हों सबको समान सुविधायें हों फिर उस दशा में यह शोषण स्वतः बन्द हो जायगा। इसीलिए प्रेमचन्द ने उपन्यासों में धर्म, समाज, सभी दृष्टि से साम्यवादी विचार धारा को जीवन के लिए उपयोगी और आवश्यक माना है। मृत्यु से दो मास पूर्व प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता नामक लेख में लिखा था:—

"जहां धन की कमी वेशी के आधार पर असमानता है, वहां ईर्ष्या, जोर-जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार और सारी दुनियां की बुराइयां अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहां धन का आधिक्य नहीं, अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं, वहाँ जलन क्यों हो और जब्र क्यों हो? सतीत्व-विक्रय क्यों हो और व्यभिचार क्यों हो? झूठे मुकदमें क्यों चलें और चोरी डाके की वारदातें क्यों हो? ये सारी बुराइयां तो दौलत की देन हैं, पैसे के पैसे हैं। और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो प्रसाद है, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है वही यह भी चाहती है कि जो दलित, पीड़ित और विजित हैं वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर संतुष्ट रहें ......पैसा अपने साथ यह सारी बुराइयां लाता है, जिन्होंने दुनियां को नरक बना दिया है। इस पैसा-पूजा को मिटा दीजिये सारी बुराइयां अपने आप मिट जांयगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियाँ तोड़ना बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जाजनक तथा घातक विष समझती है।"

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जीवन और

समाज के लिए धन को अभिशाप के रूप में ग्रहण करते थे और इसीलिए वे ऐसे समाज की कल्पना करते थे जो इस नारकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोद कर फेंक देगी और "जिसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है वह पतिततम प्राणी है। उसे राज्य प्रबन्ध में राय देने का हक नहीं है और वह नागरिकता के अधिकारों का भी पात्र नहीं है।"

प्रेमचन्द सामाजिक चेतना सम्पन्न कलाकार थे। सदाचार क्षमाशीलता, देशप्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनैतिक उत्कर्ष और राष्ट्र उन्नति वे चतुर्दिक देखना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने समाज के उस वर्ग का चित्रण अपने उपन्यासों में किया जो शोषण से संतप्त और चिर उपेक्षित थे। वे वर्ग रत मानवता तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक निर्माण के लिए विष मानते थे। रंग भूमि में कुवँर भरतसिंह धन लोभ और सम्पत्ति मोह से आंदोलन में गद्दारी कर जाता है, उस समय डाक्टर गांगुली के मुख से प्रेमचन्द कहते हैं:—

"अब आपको विदित हुआ होगा कि हम क्यों सम्पत्तिशाली पुरुषों पर भरोसा नहीं करता? वह तो अपनी सम्पत्ति का गुलाम है। वह कभी सत्य के समर में नहीं आ सकता। जो सिपाही सोने की ईंट गर्दन में बांध कर लड़ने चले, वह कभी नहीं लड़ सकता। उसको तो अपनी ईंट की चिंता लगी रहेगी।"

इन पंक्तियों से प्रकट है कि प्रेमचन्द धन लिप्त मानव को निकम्मा समझते थे, कारण कि न वह त्याग कर सकता, न संघर्ष में योग दे सकता है।

प्रेमचन्द और धर्म

धार्मिकता भारतवर्ष की थाती है। धार्मिकता ही इस देश की मूल और सर्वाधिक व्यापक विचारधारा है। इस देश में जन्म लेते ही मानव धर्म को बपौती के रूप में ग्रहण कर लेता है। सम्पूर्ण देश में प्रचलित धर्मों की संख्या पर्याप्त बड़ी है। धर्मों के अन्तर्गत प्रचलित मत, पंथ और सम्प्रदायों की संख्या शतशः है। धार्मिकता इस देश के निवासियों का प्राण है। अतः धर्म की जितनी परिभाषायें इस देश में प्राप्त हो सकती हैं, उतनी कदाचित अन्यत्र दुर्लभ होंगी। धर्म का ईश्वर से सदैव से घनिष्ट सम्बन्ध माना गया है। प्रायः ईश्वर को धर्म संस्थापक और धर्म के जन्मदाता के रूप में भी देखा गया है। धार्मिकता का इतिहास इस देश में उतना ही प्राचीन है जितना मानव जाति प्राचीन है। धर्म ने प्रत्येक देश की मानवता को सर्वाधिक प्रभावित किया है। मानव का हृदय, मस्तिष्क, क्रियाकलाप, साहित्य, कला, दैनिक जीवन तथा सभी कुछ तो ईश्वर और धर्म के प्रभाव से आक्रांत रहा है। विश्व के अधिकांश साहित्य का आधार धार्मिकता है। यह सरलता से कहा जा सकता है कि विश्व के प्राणियों में जितनी सामान्य प्रवृतियां पाई जाती हैं उनमें धर्म प्रमुख है। धर्म वह शक्ति रही है जिसने महान व्यक्तियों एवं प्रतिभाओं की विचार धारा को एक संकीर्ण मार्ग से युगों तक प्रभावित किया है। मानवीय जीवन और मानवीय इतिहास के यह समानान्तर युगों से चला आ रहा है। मनुष्य संसार के चाहे किसी भी कोने में किसी भी दशा वा अवस्था में रहा हो, पर धर्म से उसका जीवन

अत्यधिक प्रभावित रहा। यह धार्मिक भावना एक प्रकार का नशा है और यह नशा अनिवार्यतया युगों से मानवता के हृदय एवं मस्तिष्क को आक्रांत किए रहा है। धर्म ने (चाहे वह किसी देश का ही क्यों न हो) मानव मस्तिष्क को एक अत्यन्त सीमित एवं संकीर्ण मार्ग पर अग्रसर किया है। धर्म ने मानवता के विकास को अवरुद्ध कर रखा है, और मानव मस्तिष्क को स्वतंत्र-चिंतन के लिए अवकाश और आज्ञा नहीं देता है। इस प्रतिबन्ध और मानसिक दासता ने मनुष्य को मानसिक रूप में निर्बल ही नहीं वरन् निर्जीव बना दिया है। जब धर्म ने आदमी के चिन्तन का दायरा सीमित कर दिया और उसके सोचने की शक्ति को क्षीण कर दिया तब चतुर व्यक्तियों और धनीमानी पुरुषों ने भक्ति और धर्म के आड़ में खूब डटकर शोषण किया। उन्हें काल्पनिक सुख, भावनाओं को सुप्त कर देने वाली आशाओं तथा वैकुण्ठ आदि के आधार पर चिरकाल से अंधकार में रखा गया। जहां मनुष्य ने इस संकीर्णता का परित्याग करके मस्तक उठाना चाहा वहीं उसे नास्तिक, धर्म द्रोही और पापी कहा गया। 'कुफ्र', 'वज्रपात', और ईश्वर की कुकृपा का भय दिखा कर उसकी विद्रोहात्मक प्रवृति का दमन कर दिया गया। कारण कि धर्म के क्षेत्र में सर उठाने के लिए स्थान नहीं है, तर्क करने के लिए आज्ञा नहीं है। कहा भी गया है कि जो धर्म के क्षेत्र में तर्क शील है वह न भक्ति का अधिकारी है और न मुक्ति का। ऐसा मनुष्य कभी भी उस रहस्य के दर्शन नहीं कर सकता। केवल भेड़ों और गधों के समान सीदा-सादा "श्रद्धावान् लभते फलम्"। धर्म ने गुलामी बढ़ाने में बड़ी सहायता दी।

वर्तमान समाज का निर्माण शोषण पर ही अवलम्बित है।

आर्थिक नींव पर खड़ा हुआ यह समाज का प्रासाद धार्मिकता की सीमेंट से और भी पुष्ट हो गया है। मजदूरों-किसानों के प्रति इस समाज में जो उत्पीड़न हुए हैं और होते जा रहे हैं उनके कारण राजनैतिक एवं सामाजिक पतन भी होता जा रहा है। लेनिन के शब्दों में "मजदूरों के ऊपर इस आर्थिक जुल्म से नाना रूप के राजनैतिक जुल्मों और सामाजिक पतन का जन्म होता है। वह जनता के आध्यात्मिक और नैतिक जीवन को अधिक असंस्कृत और रूखा बना देता है। मजदूरों को अपनी आर्थिक मुक्ति के लिए कम या ज्यादा राजनैतिक स्वतंत्रता तो मिल ही सकती है लेकिन जब तक पूँजी का दौर-दौरा है तब तक अधिक से अधिक स्वतंत्रता भी उनको ग़रीबी बेकारी, और जुल्म से मुक्ति नहीं दिला सकती"। आध्यात्मिक उत्पीड़न और शोषण का एक रूप धर्म भी है। यह धर्म दलित, कुचली हुई, मेहनतकश और मूढ़ जनता पर अपना प्रभाव सब प्रकार से बनाये रखने का प्रयत्न करता है। एक समय था जब मनुष्य की सांस्कृतिक मानसिक स्थिति अत्यन्त अविकसित थी। प्राकृतिक परिवर्तनों को वह अज्ञात शक्ति का क्रोध अथवा प्रकोप मानता था। बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट और तूफानों को देखकर कांप उठता था। अपनी, हीनता व बेबसी के कारण वह देवताओं, राक्षसों तथा जादू-टोना आदि पर विश्वास करने लगा। इसी प्रकार सबल शोषण के विरुद्ध मोर्चे में शोषितों में असहायावस्था के कारण ही, मृत्यु के अनन्तर आशा सम्पन्न अच्छे जीवन के प्रति विश्वास जाग्रत होने लगता है। जीवन भर निरंतर संघर्ष में रत रहने पर भी गरीब ही बने रहने के कारण मानव में भाग्यवादी तथा भगवान-वादी विचारों का उदय होने लगता है। हृदय में जब इन भावनाओं का बिकास होने लगता है तभी धर्म को मनुष्य के

मस्तिष्क पर छा जाने का अवसर प्राप्त होता है। इसी समय धर्म जीवन में ईश्वराधीन रहने तथा सन्तोष धारण करने का उपदेश देता है। बेचारा मानव स्वर्ग में फल प्राप्ति की आशा से सब कष्टों उत्पीड़नों और शोषणों को सहन करता है। स्वर्ग प्राप्ति के लिये सस्ता टिकट खरीदकर या सहज ही हासिल करके वह अकर्मण्यता पूर्वक जीवन-यापन करने लगता है। इसी लिए मार्क्स के शब्दों में "धर्म समाज के लिए अफीम है।" यह एक प्रकार का आध्यात्मिक नशा है, जिसके प्रभाव से आज पूंजी के गुलाम अपनी मानवता बिसर जाते हैं और स्वस्थ मानव जीवन की इच्छा भी क्रमशः कुण्ठित होकर विलीन हो जाती है। लेनिन के अनुसार "वर्तमान पूंजीवादी देशों में धर्म की भित्ति प्रमुख रूप से सामाजिक है। वर्तमान धर्म की जड़ें श्रमिक जनता के ऊपर सामाजिक अत्याचार में, पूंजीवादी अंधी शक्तियों के सामने उनकी खुली हुई पूर्ण बेकसी में; जिनकी वजह से हर दिन, हर घड़ी, साधारण मजदूरी पेशा लोगों को युद्ध अथवा भूडोल जैसी विशेष घटनाओं से कई हज़ार गुना भयंकर कष्ट और पीड़ा होती है; गड़ी हुई हैं। डर ने देवताओं को जन्म दिया। पूंजीवादी अंधी शक्तियों का डर ही—अंधी इस लिए कि उनकी करनी जनता पहले से ही नहीं देख सकती—एक ऐसी शक्तियां जो कि जिंदगी में हर क़दम पर मजदूरों और छोटे मोटे व्यापारियों को उस "आकस्मिक", "अप्रत्याशित", "अलक्षित" बरबादी और नाश से डराया करती हैं जिनके फलस्वरूप भिखमंगी, दरिद्रता, वेश्यागामिता और भुखमरी का प्रकोप है।

धर्म के ठेकेदार सफेद पोश पादड़ियों को लेनिन ने गुलामी के सफेदपोश वकील के रूप में माना है और इस देश में उन्हीं के

भाई-बन्धु चन्दन का साइनबोर्ड लगाकर धर्म के नाम पर अधर्म, सत्य के नाम पर असत्य, और कल्याण के नाम व्यभिचार का प्रचार कर रहे हैं।

यह धर्म, ये धर्म की रीति-नीतियां, ये धर्म के ठेकेदार, और इन सब की कृपा से शोषित भारतीय जनता का चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों में बड़ा ही सुन्दर हुआ है। प्रेमचन्द ने धर्म तथा उसके अन्य अंगों एवं समर्थकों की अपने उपन्यासों में बड़ी आलोचना की है। प्रेमचन्द इनसे परिचित थे इसलिए उन्होंने इनके जितने चित्र अंकित किए हैं वे सभी सत्य और यथार्थ हैं। धर्म क्या है उसका सरल रूप किस प्रकार विकृत कर दिया गया है, उसके ओट से अन्य किस प्रकार लाभ उठा रहे हैं, धर्म किस प्रकार जन शोषण में सहायक हो रहा है इस सबका वर्णन प्रेमचन्द ने रोचक ढंग से अपने उपन्यासों में किया है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में धार्मिक समस्याएँ, धार्मिक संघर्ष, धार्मिक रूढ़ियां और धार्मिक आदर्श आदि विषयों को लेकर पात्रों के चित्र व्यक्त हुए हैं।

सर्व प्रथम प्रेमचन्द के उपन्यासों में अभिव्यक्त धार्मिक समस्याओं को ही ले लीजिए। भारतीय किसान की धार्मिक अभिरुचि और दृष्टिकोण अत्यन्त सदोष है। वह धर्म के वाह्याडम्बर में ही पड़ा रह जाता है। तथ्य तो यह है कि वह यही नहीं जानता कि धर्म है क्या ? शिक्षा-दीक्षा भी उसे इतनी नहीं मिलती कि वह इस विषय में सोच समझ सके। वह अत्यधिक शोषित प्राणी है और इसलिए उसे इस विषय पर सोचने का कभी अवसर भी तो नहीं मिलता। वास्तव में भारतीय किसान पूर्ण रूप से धार्मिक प्राणी नहीं है। वह वर्ष के केवल कुछ ही समय तक धार्मिक रह पाता है। किसान के

हाथ में पैसा आया नहीं कि वह पुण्य कीर्ति और स्वर्ग की लालसा से धर्म की ओर झुक पड़ा। 'गोदान' का सुजान महतो एक ऐसा ही किसान है। कई वर्षों से उसके खेतों में कचन बरस रहा है, तीन वर्षों से उसके खेतों में ऊख बहुत अच्छी पैदा हुई, इधर गुड़ का भाव भी तेज़ हो गया। बस फिर क्या हाथ में दो ढाई हजार रुपया आते ही उसकी मनोवृति धर्म की ओर झुक गई। दान दक्षिणा होने लगा। साधु संतो के आसन जम गये और गांजा, भांग तथा चरस उड़ने लगी। ढोलक और मंजीरों पर रात के पिछले पहर तक संगत जमने लगी। हाकिम और महाजन भी आ आकर उसके द्वार की शोभा बढ़ा जाते। घर में सेरों दूध होता है पर सुजान महतो के गले एक भी बूंद नहीं जाता सब आगन्तुकों की सेवा और पुण्य लाभ करने में लग जाता है। बड़ी बड़ी तोंद वाले मुसन्डे साधु-महन्त और हाकिम उसकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं और सुजान महतो धन धान्य से पूर्ण अपने घर में भी भूखे ही रह जाते हैं। पर सुजान को इसके कारण न पश्चाताप है न खेद वरन् उल्टे ही वह पुण्यार्जन करने के कारण फूला नहीं समाता। उसे विश्वास है कि इस लोक में भले ही वह दीन हीन भूखा बना रहे परन्तु परलोक तो उसका सुधर गया। धर्म का यह कितना विकृत रूप है! सुजान की गाढ़ी कमाई ठलुए धर्म के ठेकेदार गांजे, और चरस के साथ फूँक डालते हैं और वह फिर भी प्रसन्न है। कैसी विडम्बना है कि भारतीय किसान भूखा और नंगा रहकर भी मुक्ति और पुण्य के लालच में अपनी गाढ़ी कमाई दूसरों को खिला-पिला देता है! प्रेमचन्द ने यहां पर सुजान के रूप में किसान की मूर्खता का व्यंगपूर्ण चित्रण किया है।

सुजान महतो से कुछ भिन्न धार्मिकता 'होरी' की है। होरी विकृत धार्मिक समस्या के आधार पर ही व्यवहारिक पक्ष में शोषित है। होरी अपनी धार्मिक भावना, रूढ़ि प्रियताह और मुक्ति लाभ की आकांक्षा के कारण ही जीवन पर्यन्त ऋण से मुक्त न हो सका। हिन्दू समाज की परम्परागत धर्म भावना के विकृत रूप का भी गोदान में बड़ा स्पष्ट चित्रण हुआ है। हिंदू समाज में प्रातःकाल गाय के दर्शन करना पुण्य लाभ का एक साधन माना गया है। परन्तु यह भावना होरी के लिए घातक बन जाती है। एक धर्म को साधने के पीछे उसे अनेक अधर्मों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। यहां प्रेमचन्द ने धर्म के लिए अधर्म पूर्ण कार्यों को करने की विडम्बना का उपहास किया है। धर्म के यही रूप अधिकतर भारतीय जनता के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। अंततोगत्वा होरी भोला के यहां से गाय उधार पर ले आता है और इस प्रकार जीवन में उसकी एक इच्छा पूर्ण हुई परन्तु वह भी किंचित काल के लिए। आगे चलकर इसी कर्ज के कारण उसे नई नई विपत्तियों का सामना करना पड़ता है।

प्रेमाश्रम में धर्म की समस्याएँ और भी विकृत हो गई हैं। समाज में स्त्री और पति के सम्बन्ध से अधिक गम्भीर सम्बन्ध और कौन हो सकता है। परन्तु प्रेमाश्रम के प्रेमशंकर और उनकी पत्नी श्रद्धा के बीच में धर्म की एक ऐसी दीवाल खड़ी हो जाती है कि वे परस्पर मिल नहीं सकते। विदेश से लौटने पर प्रेमशंकर समाज से बहिष्कृत हो जाते हैं। समाज उन्हें भ्रष्ट और पतित समझने लगता है, तो फिर श्रद्धा जो स्वतः समाज का एक अंग है उनके निकट कैसे जा सकती? श्रद्धा के हृदय में पति के प्रति प्रेम है, ममत्व है पर समाज के

मान्य धर्म के समक्ष वह विवश है। पति तो इसी संसार का साथी है और धर्म तीनों लोकों का साथी, फिर भला श्रद्धा धर्म का परित्याग कैसे कर सकती थी? श्रद्धा धर्म के उस राजमार्ग से जरा भी विचलित होने का साहस नहीं करती जिस पर अन्धी भेड़ के समान विवेक हीन होकर पूरा समाज चला जा रहा है। औचित्य-अनौचित्य की विवेचना और विश्लेषण करने का अवकाश किसी भी व्यक्ति को नहीं है। सब लोग कर रहे हैं अतः करना चाहिए यह धर्म का भेड़ियाधसान वाला रूप है। प्रेमचन्द ने भारतीय जनता की धर्म विषयक मूढ़ता और विवेक हीनता का यहां अच्छा चित्रण किया है। मनुष्य झूठ बोले चोरी करे, और समाज कुकृत्यों को करता रहे परन्तु यदि वह धर्म के कथित नियमों का पालन करता जा रहा है तो वह धर्मात्मा है और यही भावना अभिशाप बनकर प्रेमशंकर और श्रद्धा के प्रेम को डस रही है।

अंधी धार्मिक भावना बाह्याडम्बरों से पूर्ण आचार और विचारों की आलोचना करने के लिए प्रेमचन्द ने प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर की सृष्टि की है। ज्ञानशकर में स्वार्थ साधना और गायत्री की सम्पत्ति हड़पने के लिए भक्ति भावना और ईश्वराधना का विकास होता है। इस प्रकार के व्यक्ति धर्म क्षेम अथवा व्यवहार पक्ष में अपनी आवश्यकता भर केलिए ईश्वर से प्रयोजन रखते हैं। भक्ति हृदय से की जाती है बुद्ध से नहीं। बुद्ध से भक्ति करना वैसे ही है जैसे आंख से सुनना और कान से देखना। बुद्धि से प्रेम और भक्ति करना व्यापार से किसी प्रकार कम नहीं है। प्रेमाश्रम के ज्ञानशंकर स्वार्थ पूर्ति के हेतु एक बनाई हुई योजना के अनुसार धर्म के क्षेत्र में श्री राधाकृष्ण से प्रेम करते हैं और सांसारिक क्षेत्र में विधवा गायत्री से। यहां राधाकृष्ण की भक्तिका अभिनय गायत्री को फाँसने और

उसकी सम्पत्ति हथिया लेने के हेतु होता है। अंत में ज्ञानशंकर अपने प्रयत्न में सफल होते हैं। जनता से झूठ मूठ ही वाहवाही लूटने के लिए वे नाना रूप धारण करते हैं और अपनी योजना की सफलता का समस्त श्रेय कृष्णार्पण कर देते हैं। ज्ञानशंकर ने जीवन भर कुकृत्यों और छल-कपट द्वारा दूसरों को धोखा दिया और अंत में उस सबको ईश्वर पर आरोपित करते हुए सोचते हैं कि "यदि ईश्वरीय व्यवस्था न होती तो मेरी चाल कभी न सीधी पड़ती।" ज्ञानशंकर अन्याय में साथ देने वाले इसी ईश्वर की सहायता से आगे चल कर किसानों का भी खूब शोषण करते हैं। प्रेमचन्द ने इस उदाहरण के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि शोषक शोषण के लिए सदैव धर्म और ईश्वर का सहारा लेता है और अपढ़ जनता इन रहस्यों को न समझ कर अपनी दुर्दशा और दुर्भाग्य को भी उसी ईश्वर की इच्छा का फल मानती है। प्रेमाश्रम में लेखक ने धर्म के उस रूप का गाढ़े रंग से चित्रण किया है जिसके माध्यम से प्रवंचना और शोषण बढ़ता है, मेहनतकश पिस रहा है और शोषक बढ़ रहा है।

समाज एवं धर्म में वर्णाश्रम की समस्या बहुत ही विषम बनती जा रही है। इस समस्या का चित्रण प्रेमचन्द ने गोदान में बड़े विशाल रूप से किया है। वर्णव्यवस्था समाज की नस नस में व्याप्त हो गई है अतः उसके परिचय की यहां आवश्यकता नहीं है ब्राह्मण इस समाज में जन्मजात् महान और उच्च है। वह चाहे कितना ही पाप व्यभिचार करे फिर भी वह ब्राह्मण ही रहेगा। इसलिए कि वह जन्म से ब्राह्मण है। गोदान में दातादीन का पुत्र मातादीन का सिलिया चमारिन से ऐंद्रिक सम्बन्ध है। गांव भर इस बात से परिचित है। परन्तु किसी में इतना साहस नहीं कि मातादीन और दातादीन को अस्पृश्य या पतित कह दे एक

दिन झींगुरीसिंह ने मातादीन और सिलिया के संबंध की चर्चा चला ही तो दी। उत्तर में दातादीन गरजकर बोले "पीछे पीछे आदमी जो चाहे बके, हमारे मुँह पर कोई कुछ कहे तो उसकी मूँछे उखाड़ लूँ। कोई हमारी तरह नेमी बन तो ले। कितनों को जानता हूं जो कभी संध्या-वंदना नहीं करते, न उन्हें धरम से मतलब, न करम से, न कथा से मतलब न पुरान से। वह भी अपने को ब्राह्मण कहते हैं। हमारे ऊपर क्या हँसेगा कोई, जिसने अपने जीवन में एक एकादसी भी नागा नहीं की, कभी बिना स्नान किए मुंह में पानी नहीं डाला। नेम का निभाना कठिन है। कोई बतादे कि हमने कभी बाजार की कोई चीज़ खाई हो, या किसी दूसरे के हाथ का पानी पिया हो, तो उसकी टांग की राह निकल जाऊँ। सिलिया हमारी चौखट नहीं लांघने पाती, चौखट, बरतन भाँडे छूना तो दूसरी बात है।" यह है धर्म का वह स्वरूप जो भारतीय जनता पर छाया हुआ है। धर्म के इन्हीं वाह्याडम्बरों की आलोचना शताब्दियों पूर्व हिन्दी के प्रगतिशील कवि संतों ने की थी। सन्तों में विशेषकर कबीर ने अपनी स्पष्टोक्तियों और व्यंगवाणों के द्वारा धर्म की कृत्रिमता में रत जनता को मर्माहत कर दिया था। प्रेमचन्द ने उसी शैली को ग्रहण करके किसानों की जीवन गाथा का चित्रण किया। आज के समाज में ब्राह्मण की भावना का प्रेमचन्द ने यथा तथ्य चित्रण उपर्युक्त पंक्तियों में किया है। सत्य तो यह है भोजन की पवित्रता को ही हमने धर्म समझ रखा है। प्रेमचन्द के शब्दों में "हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे, फिर हमारे धर्म पर कोई आंच नहीं आ सकती। रोटियां ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।" इन थोड़े शब्दों में लेखक ने जनता के प्रिय वर्तमान धर्म की कितनी अच्छी व्याख्या की है। इन शब्दों में प्रेमचन्द ने धर्म के संकुचित और संकीर्ण रूप की कटु आलोचना करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है

कि धर्म को रोटी दाल तक ही सीमित रखना हमारी मूर्खता का द्योतक है।

रंगभूमि में प्रेमचन्द ने ताहिरअली का चरित्र चित्रण करते हुए लिखा है "धर्म का मुख्य स्तंभ भय है। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिए, फिर तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें खाली नजर आएँगी और मंदिर वीरान।" बात सोलह आने सत्य है जिस दिन मनुष्य सत्य की भावना का परित्याग कर स्थितियों से लड़ने के लिए तैयार हो जायगा उस दिन पण्डों-पुरोहितों और मौलवियों-मुल्लाओं का प्रभाव काफूर हो जायगा और धर्म विलीन हो जायगा। सच है अनिष्ट की आशंका मनुष्य से क्या नहीं करवा लेती।

हिन्दू धर्म ही नहीं वरन् ईसाई धर्म में भी धार्मिक समस्याएँ विकृत हो गई हैं। 'रंगभूमि' की मिसेज़ जान सेवक के हृदय में धर्म के बाह्य रूप के प्रति बड़ा आग्रह है। वे नियम पूर्वक चर्च में आने जाने को धर्म का अंग मानती हैं और बाह्य प्रदर्शन न करने वाले को वे प्रभु मसीह का द्रोही मानती हैं। इसी विषय पर मिसेज सेवक की अपनी प्रिय सन्तान से जीवन पर्यन्त न पटी, दोनों में संघर्ष बना ही रहा। जान सेवक प्रति दिन सायंकाल गिरजाघर इसलिए जाते हैं कि वहां जाने से समाज में उनका सम्मान बढ़ता है और इस धार्मिकता के पीछे वे धनार्जन भी खूब कर लेते हैं। मिसेज सेवक नित्यप्रति चर्च में जाने और बाह्याडम्बर को बनाए रखने को ही धार्मिकता मानती हैं। यह सब इस बात का प्रमाण है कि चाहे जो धर्म हो अथवा चाहे जो मत हो उसका वास्तविक रूप, उसकी आत्मा बाह्याचारों से

आच्छादित है। धर्म में सच्चाई और ईमानदारी का स्थान प्रदर्शन ने ले लिया है और इसी प्रदर्शन पर चाहे वे मिसेज सेवक हों या जान सेवक हों सभी जोर देते है। हाँ, प्रभु सेवक तथा सोफी जैसे नवयुवक और नवयुवतियाँ अवश्य इस प्रकार के धर्म की कटु आलोचना करती हैं और उसे हेय बताती हैं। चर्च या गिरजाघर आने जाने का रहस्य और आवश्यकता की बात जान सेवक के मुख से ही सुनिये। जान सेवक प्रभु सेवक को उपदेश देते हुए कहते हैं:—

"मुझे निश्चय था कि तुम जीवन और धर्म के सम्बन्ध को भली भाँति समझते हो पर अब ज्ञात हुआ कि सोफी और अपनी माता की भाँति भ्रम में पड़े हुए हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे और हजारों आदमी जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं आखें बन्द करके ईश प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं ? कदापि नहीं।" यदि अब तक तुम्हें नहीं मालूम तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ का संगठन है। सम्भव है तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उनके प्रति इतनी ही श्रद्धा है, जितनी किसी मामूली फकीर के प्रति। उसी प्रकार फकीर भी दान और क्षमा की महिमा गाता फिरता है, परलोक सुखों का राग गाया करता है। वह भी उतना ही त्यागी, उतना ही दीन, उतना ही परमार्थ है। लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़ कर गिरजा अवश्य जाता हूं न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा। फिर अपने ही घर में अशांति

फैल जायेगी। मैं केवल तुम्हारी माता के कारण ही अपने ऊपर यह अत्याचार करता हूँ तुमसे भी मेरा यही अनुरोध है कि व्यर्थ का दुराग्रह न करो। तुम्हारी माता क्रोध के योग्य नहीं दया के योग्य हैं।"

(रंग भूमि पृष्ठ १२५-१२६)

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि हमारी धार्मिक समस्याएँ इतनी विकृत हो गई हैं कि परलोक ही नहीं वरन् लौकिक स्थिति को सुधारना दूसरों की दृष्टि में अपना नैतिक, सामाजिक और आर्थिक महत्व और हैसियत बढ़ाने के लिये धार्मिकता का ढोंग धारण करना अनिवार्य हो गया है। जान सेवक की धार्मिक मनोवृत्ति प्रायः पूरे समाज की मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है आज भी जान सेवक के समान इस समाज में लोग मन में करते और सोंचते हैं कि धर्म पर "इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सब काम छोड़ कर गिरजा अवश्य जाता हूँ, न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा।" कितनी बड़ी विडम्बना है कि आज के समाज में धर्म व्यवसाय का साईनबोर्ड बन गया है। आज धार्मिकता हृदय का आग्रह नहीं वरन् दिमाग से उत्पन्न एक चाल है दूसरों को पराजित करने के लिए, दूसरों को धोखा देने के लिए। जो जितना बड़ा धार्मिक है वह उतना ही बड़ा शोषक है। गिरजा, मन्दिर और मस्जिद जनता को बहलाने और भ्रम-मरुस्थल में भटकाने के माध्यम हैं।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में धार्मिक संघर्षों एवं जनता पर तज्जनित प्रभाव भी बड़ी सफलता के साथ अभिव्यक्त किया है। शास्त्रकारों ने कहा है कि "आर्जवं धर्मभित्याहुरधर्मों जिह्म उच्यते"

अर्थात् जहां सरलता है वहां धर्म है और जहां कुटिलता है वह अधर्म है। अभिप्राय यह है कि धर्म का रूप सरल एवं कृत्रिमता विहीन है। प्राचीन काल से आजतक जितने धर्म संस्थापक हुए उन्होंने इसी बात का प्रचार किया परन्तु उनका यह उपदेश उनके जीवन की अन्तिम श्वासों के साथ विनष्ट हो गया। गौतम बुद्ध नें जीवन-पर्यन्त धर्म के सरल रूप का प्रचार किया पर हीनयान और महायान के रूप में बौद्ध धर्म कितना विकृत हो गया था। वस्तुत: धर्म का मार्ग सरल है पर संसार जैसे जटिलता एवं कुटिलता का आदी हो गया है। यही जटिलताएँ धार्मिक क्षेत्र में संघर्ष का कारण बन जाती हैं। सत्य तो यह है कि ज्ञान और धर्म का लक्ष्य है मानवता का कल्याण करना। जो ज्ञान या धर्म मानवता में फूट, शोषण और विषमता का बीजारोपण करदे वह अधर्म एवं अज्ञान है। इस प्रकार के धर्म से स्वार्थ की पूर्ति भले हो जाय परमार्थ नहीं हो सकता। प्रेमचन्द ने ऐसे धर्म और ज्ञान को हेय और अपदस्थ माना है गांवों में धर्म का वह रूप जो प्रेमचन्द ने देखा वह अज्ञानता, कृत्रिमता से सम्पन्न है पर शहरों में धर्म का जो रूप उन्हें दृष्टिगत हुआ वह और भी विकृत है। शहरों में धर्म अज्ञानता, कृत्रिमता और बाह्याडम्बरों से सम्पन्न तो है ही साथ ही वह दूसरों को नीचा दिखाने का साधन भी है। नगरों एवं शहरों में लोग दान धर्म इसलिए नहीं करते कि यह उनकी आत्मा की पुकार और मांग है वरन् दान और धर्म के द्वारा दूसरों पर रोब जमाना चाहते हैं। दान धर्म का मापदण्ड माना जाता है अत: जो जितना अधिक दान करेगा उतना अधिक धार्मिक समझा जायगा। महत्व केवल दान देने का ही है भावना की खोज कोई नहीं करता। धर्म के क्षेत्र में प्राय: दान पारस्परिक संघर्ष का कारण बन जाता है जैसा कि गोदान की दुनियां में दिखाई देता है। गोदान में रायसाहब होरी से कहते हैं:—

"सम्पत्ति और सहृदयता में वैर है। हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं: लेकिन जानते हो क्यों? केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार।" (गोदान पृ० १५-१६)

स्पष्ट है कि दान दूसरों को नीचा दिखाने के लिए है। यह दान अहंकार को प्रकट करने का साधन है। इसमें तामसी भाव अधिक है और सात्विकता से विहीन है। दान देकर दाता के व्यक्तित्व की महत्ता तो बढ़ जाती है पर यह परीक्षण कोई नहीं करता कि यह धन कहां से और किस प्रकार आया? अहंकार को व्यक्त करने का यह साधन दाता की गाढ़ी कमाई नहीं है वरन् मेहनतकश का वंचित धन है। लेनिन ने 'धर्म और समाजवाद' के लेख में दान के विषय में लिखा था:—

"जो लोग जीवन भर परिश्रम करने के बावजूद भी गरीब रहते हैं उन्हें धर्म इस जीवन में ईश्वराधीन रहने और सन्तोष रखने का उपदेश देता है, और स्वर्ग में फल मिलने का आश्वासन देता है। जहाँ तक उन लोगों का सम्बन्ध है जो दूसरों के श्रम पर जीवित रहते हैं, उन्हें धर्म "दानी" बनना सिखाता है। इस प्रकार वह शोषण को औचित्य प्रदान करता है. या यों कहिये कि इस प्रकार स्वर्ग के लिए सस्ता टिकट दे देता है।" (धर्म पर लेनिन के विचार पृष्ठ २)

अतः 'गोदान' के रायसाहब का यह दान जहाँ एक ओर अहंकार के प्रकटीकरण का माध्यम है वहाँ दूसरी ओर दान शोषण अर्जित द्रव्य है। लेनिन का कथन कितना सत्य है कि शोषित धन उपजीवी को दानी बनाना सिखाता है। आज के दानियों पर प्रेमचंद का व्यंग कितना सार्थक है धर्मात्मा बनने का कितना सस्ता नुसखा है।

गोदान में एक और धार्मिक संघर्ष अभिव्यक्त हुआ है और यह है आत्मवाद एवं आत्मवाद विषयक समस्या के रूप में। इस समस्या पर मनन तर्कवितर्क उसके अनन्तर मिस्टर मेहता के हृदय में निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्यस्थ संघर्ष दृष्टिगत होता है। वे कहते हैं कि "यदि ईश्वर के यह विधान इतने अज्ञेय हैं कि मनुष्य के समझ में नहीं आते तो उन्हें मानने से मनुष्य को क्या संतोष मिल सकता है। मिस्टर मेहता एकात्मवाद तथा सर्वात्मवाद आदि के सिद्धांतों का मूल्यांकन और उपयोगिता भी तर्कवादी दृष्टि से करते हैं। वे मानव समाज के उत्थान और विकास के हेतु ऐक्य और चेतना को अनिवार्य मानते हैं। मेहता दार्शनिक हैं और उनकी चिन्तन पद्धति भी किसी दार्शनिक के ढंग की ही है। वे अद्वैत-द्वैत की समस्या को मानवता की कठिनाइयों को हल करने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं पाते है। मेहता के मस्तिष्क में यही समस्याएँ उथल पुथल संघर्ष करती हुई दृष्टिगत होती हैं।

'गोदान' में प्रेमचन्द ने यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि अपने धर्म से कोई भी संतुष्ट नहीं फिर भी वह उसे छोड़ने के लिए उद्यत नहीं है। ऊँच हो या नीच, धनी हो या निर्धन, बड़ा हो या छोटा धर्म सबको पीसे डाल रहा है, फिर भी लोग उसके चारों ओर ठीक उसी प्रकार चिपके हुए हैं जैसे छत्ते में मक्खियाँ। गोदान में हरखू चमार कहता है "हम आज या तो माता-दीन को चमार बनाकर छोड़ेंगे या उनका और अपना एकत एक कर देंगे। सिलिया कन्या जाति है, किसी न किसी के घर तो जायेगी ही। हमारी इज्जत लेते हो तो हमें अपना धर्म दो।" दूसरी ओर मातादीन अपनी प्रियतमा सिलिया से कहते हैं कि "मैं ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ, जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण हैं जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।"

इन दोनों कथनों से स्पष्ट है कि दोनों अपने ही अपने धर्म से असन्तुष्ट और विचलित हैं। सत्य तो यह है कि सभी लोग कर्तव्य और सत्य को भूल कर केवल धर्म शब्द को मजबूती से पकड़े हुये हैं।

वरदान में धर्म और दान के कारण काशी के रईस शालिग्राम के परिवार में पारिवारिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। शालिग्राम ब्राह्मण एवं साधुओं के भक्त हैं। दान और भण्डारे में समस्त धन स्वाहा कर देने के अनन्तर वे कर्ज लेकर मंदिर बनवाते और ब्रह्मभोज करते हैं। मुंशी जी की सामर्थ्य से बाहर दानशील प्रवृत्ति के कारण अपनी पत्नी से संघर्ष चलता रहता है। ऋण क्रमशः बढ़ता जाता है और अन्ततोगत्वा उस से निस्तार न देखकर प्रयागराज जाकर वहीं भेष बदलकर गुप्त हो जाते हैं। इधर उनकी पत्नी सुषमा को ऋण से मुक्ति के लिए सामान और इलाका नीलाम करना पड़ता है। इस उपन्यास में दानशीलता का बड़ा ही विकृत चित्र अङ्कित किया गया है। क्या घर फूंक तमाशा देखते रहना ही धर्म प्रियता है ? यह दान, मन, वचन एवं कर्म को व्यवस्थित रखने वाला धार्मिक तत्व भी नहीं है फिर भी हम भारतीय इसमें इतना अधिक क्यों पगे हुए हैं। सामर्थ्य से बाहर दान देकर अपनी सन्तान को भूखों मारना और उसका भविष्य नष्ट कर देना कहां की धार्मिकता है। प्रेमचन्द ने इस प्रकार के दृश्यों के चित्रण से जहां धार्मिकता के जंजाल की चुटकी ली है वहां दूसरी ओर हमारे कर्तव्य का भी ज्ञान कराया है।

'रंगभूमि' में धार्मिक संघर्ष के उग्र और अधिक विनाशकारी रूप के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ में धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व और वहिर्द्वन्द्व दोनों उपलब्ध होते हैं। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने पिता-पुत्री, माता-पुत्री, पिता, माता-पुत्र, पति-पत्नी, पूंजीपति और मेहनत

कश, अधिकारी--जनता के मध्यस्थ धार्मिक संघर्षों के विविध रूपों का चित्रण किया है। इन सभी में सोफी और मिसेज जान सेवक का संघर्ष प्रमुखतम है। उपन्यास के कितने ही पृष्ठ इसी समस्या को हल करने में खप गए हैं। इस संघर्ष का प्रारम्भ उस स्थल से होता है जब वृद्ध सूरदास को भिक्षा-वृत्ति में संलग्न देख कर सोफी द्रवीभूत हो जाती है परन्तु मिसेज जान सेवक सूरदास का उपहास करती हुई कहती है:—"तेरे भगवान ने तुझे अन्धा क्यों बना दिया? इसलिए कि तू भीख मांगता फिरे? तेरा भगवान बड़ा अन्यायी है?"

सोफिया:—"मामा आप इसका इतना अनादर कर रही हैं कि मुझे शर्म आती है। मामा यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आता। अगर प्रभु ईसू ने अपने रुधिर से हमारे पापों का प्रायश्चित कर दिया तो फिर सारे ईसाई समान दशा में क्यों नहीं हैं? अन्य मतावलम्बियों की भाँति हमारी जाति में भी अमीर गरीब, अच्छे बुरे, लँगड़े लूले सभी तरह के लोग मौजूद हैं इसका क्या कारण है?" (रंग भूमि पृ० १७-१८)

सोफी और उसकी मा मिसेज जान सेवक में इसी प्रकार के विषयों पर निरन्तर संघर्ष चलता है। मिसेज सेवक दूसरे के धर्म के प्रति व्यंग्याघात करने में नहीं चूकतीं और सोफी की दृष्टि में सभी धर्म समान रूप से दोषों से ग्रस्त हैं। सोफी चिन्तन के क्षेत्र में उदारता और स्वतंत्रता चाहती है और उसकी माता प्रभु ईसू द्वारा प्रतिपादित धर्म को निष्कलंक मानती है और इसके विषय में तर्क शीलता की जाग्रति को विनाश का श्री गणेश मानती है। मिसेज़ सेवक कहती हैं:—

"बेशक, ईश्वर-ग्रन्थ पढ़ना बेगार है, मसीह का नाम लेना पाप है, तुझे तो उस भिखारी अंधे की बातों में आनन्द आता

है, हिन्दुओं के गपोड़े पढ़ने में तेरा जी लगता है, ईश्वर-वाक्य तो तेरे लिए जहर है। खुदा जाने तेरे दिमाग में यह खब्त कहां से समा गया है। जब देखती हूँ, तुझे अपने पवित्र धर्म की निन्दा ही करते देखती हूँ। तू अपने मन में भले ही समझ ले कि ईश्वर-वाक्य कपोल कल्पना है लेकिन अंधे की आंखों में अगर सूर्य का प्रकाश न पहुंचे तो यह सूर्य का दोष नहीं·····महान् आत्मा की अमृत वाणी से·····यदि तेरा मन विमुख हो रहा है तो यह तेरा दोष है और तेरी दुर्बुद्धि है। खुदा तेरे हाल पर रहम करे।" (पृष्ठ ४७-४८)

इस संघर्ष की चरमसीमा उस स्थान पर दृष्टिगत होती है जहाँ सोफी के निम्नलिखित कथन—"तो मैं मजबूर होकर अपने को उनकी उम्मत से बाहर समझूँगी; क्योंकि बाइबिल के प्रत्येक शब्द पर ईमान लाना मेरे लिए असम्भव है।"—को सुनकर मिसेज सेवक कहती है "प्रभु मसीह से विमुख होने वाले के लिए इस घर में जगह नहीं है।" (पृष्ठ ४६) इस प्रसंग के आगे ही उपन्यासकार ने मिसेज सेवक को सोफिया की मेज पर से बौद्ध और हिंदू धर्म के ग्रन्थों को उठाकर फेंकते हुए और तदनन्तर उन्हें अपनी धार्मिकता के कारण जूतों से रौंदते हुए चित्रित किया है। यह वर्णन रोचक और हास्योद्रेक करने वाला है। सोफिया की इस नास्तिकता की खबर बिजली के समान घर के कोने कोने में फैल गई। मिसेज सेवक के पिता मिस्टर ईश्वर सेवक ने जब यह समाचार सुना तो "ऐसे चौंके, मानो देह पर आग की चिनगारी गिर पड़ी हो और ज्योति विहीन आंखों को फाड़ कर बोले—"क्या कहा, सोफी प्रभु मसीह की निन्दा कर रही है? सोफी?" मिसेज सेवक और उनके पिता के आवेश बड़े हास्यास्पद हैं। इस संघर्ष में सोफिया और मिसेज सेवक दोनों एक दूसरे की विचारधारा की कटु आलोचना करती हैं इस वादविवाद और कटु आलोचना का परिणाम भयंकर हो जाता है। इस प्रसंग से

प्रत्यक्ष है कि मानव मस्तिष्क को धार्मिक विचार और चिन्तन कितना संकीर्ण और असहिष्णु बना देता है।

इसी प्रकार मिसेज सेवक और उनके पुत्र प्रभु सेवक में भी धार्मिक मतभेद उग्ररूप में चलता रहता है। मिसेज सेवक का कथन है कि सोफिया गुमराह है और "गुमराहों पर दया करना पाप है।" प्रभु सेवक कहते हैं "अगर सोफी गुमराह है तो ईसाइयों में १०० में ९९ आदमी गुमराह हैं। वह धर्म का स्वांग नहीं दिखाना चाहती यही उसमें दोष है। नहीं तो प्रभु मसीह से जितनी श्रद्धा उसे है, उतनी उन्हें भी न होगी जो ईसा पर जान देते हैं।" इन वाक्यों को सुन कर मिसेज क्रोध से जल भुन गई। यह है धर्म का वह रूप जो पारस्परिक स्नेह, ममत्व प्रेम एवं नैकट्य की हत्या करके वैमनस्य का बीजारोपण सदैव के लिए कर देता है। जो धर्म ऐक्य के सूत्र को विच्छिन्न कर डाले और अशांति को उत्पन्न कर दे उस धर्म की क्या आवश्यकता है?

कर्मभूमि में धार्मिक संघर्ष का मूल कारण 'धार्मिक संकीर्णता' है। देश में बहुत समय तक मंदिर प्रवेश आंदोलन भी चलता रहा है। मंदिर प्रवेश कुछ समय तक राष्ट्रीय आंदोलन कार्यक्रम का एक अंग माना गया। इसी आंदोलन के फलस्वरूप सवर्णों और अन्त्यजों में अनेक बार संघर्ष हुए और प्रत्येक बार सवर्णों ने अछूतों पर अत्याचार और दमन का चक्र चला कर उन्हें शांत और मौन बना दिया। कर्मभूमि की कथा वस्तु इसी विचार धारा से प्रभावित है। ठाकुरद्वारा में कथा वाचक जी पतितपावन भगवान की कथा सुना रहे हैं। मैदान खचाखच भरा है। सवर्ण श्रोताओं के जहां जूते रखे हैं उससे भी कुछ दूर कुछ अछूत दीनबन्धु दीनानाथ की गुण गाथा सुनने के लिए ज़मीन पर बैठे हैं। परन्तु ब्रह्मचारी जी को यह बात सहन न हुई। जो समाज द्वारा अस्पृश्य और अन्त्यज है वह भगवान की गाथा का श्रवण

किस प्रकार से कर सकता है। फलतः उन पर पवित्र जूतों की वर्षा होने लगती है। इस घटना स्थल पर डा० शांतिकुमार भी विद्यमान हैं। उन्हें यह दुर्व्यवहार बहुत ही अखरता है। अन्त में बोल ही उठते हैं "वाहरे ईश्वर भक्तो! क्या कहना है तुम्हारी भक्ति का, तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं, तुम्हारी इतनी मजाल कि इन भगवान के मंदिर में कदम रखो। तुम्हारे भगवान किसी झोपड़े में या पेड़ तले होंगे। यह भगवान रत्नों के आभूषण पहनते हैं, मोहन भोग मलाई खाते हैं, चीथड़े पहनने वाले और चवेना चवाने वालों की सूरत नहीं देखना चाहते।" कर्मभूमि में इस धार्मिक संघर्ष को बड़ा स्पष्ट और व्यापक रूप प्रदान किया गया है। अछूतोद्धार की समस्या की सवर्गों ने सदैव से उपेक्षा की और दबाने का प्रयत्न किया इन प्रयत्नों में उसे चिर उपेक्षित निम्न वर्ग के नेताओं से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा।

इस वर्ग और वर्ण विभाजन के कारण धर्म केवल सवर्गों की बपौती सी बन गई है। यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि हृदय में श्रद्धा और भक्ति से सम्पन्न अछूत उस अपने परम पिता और अनादि शक्ति से प्रेम नहीं कर सकते, उसकी मूर्ति पर पुष्पांजलि नहीं अर्पित कर सकते। इसका कारण यह है कि उन्हें समाज ने अन्त्यज बना दिया है और वे निर्धन हैं। धन न होने के कारण उनको न धार्मिक स्वातंत्र्य है और न धर्म के क्षेत्र में उनकी पहुंच है। धर्म का यह कितना बड़ा विकृत रूप है कि वह अमीरों की बपौती बन गया है। अमीर जीवन भर कुकर्मी, शराबी, व्यसनी व्यभिचारी बना रहे पर यदि वह दान करता है, यदि वह कथा सुनता है, ब्राह्मणों को भोज देता है तो वह धर्मात्मा है और स्वर्ग के द्वार उसके हेतु उन्मुक्त हैं।

सेवा सदन में पति-पत्नी के धार्मिक संघर्ष के कारण ही गजाधर प्रसाद का पारिवारिक जीवन विनष्ट हो जाता है और वे दर-दर मारे मारे फिरते हुए दीख पड़ते हैं। वेश्या को समाज में पतित घृणित और हेय बताया गया है। परन्तु गजाधर प्रसाद स्वतः भोली के यहां जाने में न सामाजिक दृष्टि से अपमान मानते हैं न धार्मिक दृष्टि से पतन। परन्तु उन्हें अपनी पत्नी सुमन का भोली के यहां आना जाना बहुत अरुचिकर है। एक दिन गजाधर ने सुमन को भोली के यहां से आते हुए देखकर आपत्ति की। सुमन ने सावधान होकर उत्तर दिया "उसमें कोई छूत तो नहीं लगी है। शील स्वभाव में यह किसी से घटकर नहीं, मान मर्यादा में किसी से कम नहीं, फिर उससे बातचीत करने में मेरी क्या हेठी हुई जाती है ? वह चाहे तो हम जैसों को नौकर रख ले। .... धर्मात्मा लोग उसका आदर करते हैं। अभी राम नौमी के उत्सव में मैंने उसे बड़े बड़े पंडितों और धर्मात्माओं की मंडली में गाते देखा। कोई उससे घृणा नहीं करता था। सब उसका मुंह देख रहे थे। लोग उसका आदर सत्कार ही नहीं करते थे लोग उससे बात चीत करने में अहोभाग्य समझते थे।" उत्तर में गजाधर ने कहा "तो तुमने उन लोगों के बड़े बड़े तिलक लगे देखकर ही उन्हें धर्मात्मा समझ लिया ? आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक से एक मगर-मच्छ पड़े हुए हैं। भोले भोले भक्तों को निगल जाना उनका काम है। लम्बी लम्बी जटाएं, लम्बे २ तिलक-छापे और लम्बी लम्बी दाढ़ियाँ देखकर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर यह सबके सब महापाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करने वाले धर्म के नाम पर टका कमाने वाले भोग विलास करने वाले पापी हैं। भोली का आदर सम्मान उनके यहां न होगा तो किसके यहाँ

होगा ?" (पृष्ठ ३०-३१)। इन पंक्तियों में पति पत्नी का धार्मिकता के आधार पर संघर्ष स्पष्ट है, पर साथ ही गजाधर के प्रस्तुत कथन से कथित धार्मिकों के रहस्योद्घाटन भी बड़ी ही अच्छी प्रकार से हो जाता है। सच है धर्म के निर्मल सागर में एक से एक बड़े मगर-मच्छ पड़े हुए हैं जिनका काम ही है दूसरों के अस्तित्व को नष्ट करके अपने उदर की पूर्ति करना। बड़े २ मठों और गुरुद्वारों का यह ऐश्वर्य, यह चमक दमक किसकी कमाई के बूते पर है ? इन्हीं गरीब मेहनत कशों की कमाई पर, जिन्हें निरन्तर भाग्यवाद का पाठ पढ़ाकर अकर्मण्य बना दिया जाता है। और गजाधर ? वह भी कम ढोंगी नहीं है। दूसरों को धर्म की शिक्षा देता फिरता है और स्वत: दीवालिया बना हुआ है। फलत: इन ढोंगियों और मगर-मच्छों के समाज में सुमन अपने धर्म पर दृढ़ न रह सकी। उसके पतन का जो दृश्य सेवासदन में व्यक्त हुआ है, बड़ा स्वाभाविक है।

देश के विभाजन के पूर्व मंदिर-मसजिद समस्या बड़ी विकृत और विषम समस्या थी। धर्म के ठेकेदारों और कूट नीतिज्ञों ने प्रत्येकबार इन संस्थाओं से सम्बन्धित वर्गों को लड़वा कर अपने स्वार्थ की पूर्ति की। दोनों वर्गों की अशिक्षा मूढ़ता और संकीर्णता का लाभ यदि किसी ने उठाया तो वह धार्मिक नेताओं ने। इन्हों ने दूसरों के बलिदान पर अपने वैभव एवं ऐश्वर्य के महल और महत्व की दीवालें उठाईं। प्रेमचन्द ने हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक संघर्ष और भेदभाव का चित्रण बड़ी सुन्दरता के साथ 'कायाकल्प' उपन्यास में किया है। आज वर्तमान काल में वही सभ्य समझा जाता है जो दूसरों को मूर्ख बना कर स्वार्थ सिद्धि करे। प्रेमचन्द ने इन कथित सभ्य

नेताओं का चित्र कायाकल्प में खींचा है। धर्म और देवता की भावना विवाद से परे है। यदि वह अनादि, अनन्त, अभेद, अनाम और अजाति है तो फिर उसको मंदिर मसजिद की सीमित दीवारों में कैसे बांधा जा सकता है और फिर उस पर किसी एक विशेष वर्ग का आधिपत्य भी कैसे माना जा सकता है। इन धार्मिक संघर्षों में प्रेमचन्द ने दिखाया है कि वही मारे जाते हैं जो बेकसूर, बेबस और गरीब हैं। धनी उन्हें भिड़ा कर मिटा कर स्वार्थ सिद्धि करता है। इन नेताओं की वाणी और हृदय किस प्रकार संकीर्ण एवं विषाक्त है और किस प्रकार ये निरीह अज्ञान और भोली जनता के हृदय को विषाक्त करते हैं यह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाना चाहिये। मंदिर के संस्थापक एवं व्यवस्थापक काशी के एक कथित स्वनामधन्य उपदेशक महोदय हैं इनका उपदेश और आदेश है कि "एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ होगा"। मस्जिद के संस्थापक ख्वाजा साहब की सम्मति और आज्ञा है कि "जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सबाब मिलेगा।" यह है धर्म का वह अभिशप्त स्वरूप जिसने चिर काल से भारतीय समाज को निर्बल बना रक्खा है और जनता को आवेश और भ्रम में रख कर मूढ़ बना दिया है। इन धार्मिक संघर्षों से प्रेमचन्द ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना' वरन् इस सबके उत्तरदायी धार्मिक नेता मात्र हैं। कायाकल्प में धार्मिक विषयों को लेकर संघर्ष का एक और उल्लेख आवश्यक होगा। हिंदू-मुस्लिम दंगे में अहिल्या को मुसलमान उठा ले जाते हैं। परन्तु अहिल्या के वापस आने पर उसका पति चक्रधर फिर स्वीकार कर लेता है। इस घटना के कारण चक्रधर के पिता बज्रधर उससे अत्यन्त असन्तुष्ट हो जाते

हैं और उसके मर जाने की कामना प्रकट करते हैं। यह कामना चक्रधर की माता के लिए असह्य है। इस प्रकार पति और पत्नी में झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है। बज्रधर की पत्नी इस संकीर्णता पर उन्हें (बज्रधर को) कोसती हुई कहती है "बड़े धर्मात्मा बनकर आये हो. रिश्वतें ले ले कर हड़पते हो तो धर्म नहीं जाता, शराब उड़ाते हो तो मुँह में कालिख नहीं लगती। लड़का एक अनाथिनी की रक्षा करने जाता है तो नाक कटती है, तुमने कौन कौन से कुकर्म नहीं किये, अब देवता बनने चले हो।" इन स्पष्टोक्तियों में हमारे धार्मिकों का कितने सुन्दर ढंग से पर्दाफाश हुआ है। क्या ये संकुचित मनोवृतियाँ हमें पतन की ओर धकेलने में समर्थ नहीं हैं ?

धर्म के नाम पर सर्वाधिक शोषित वर्ग है कृषक। जाति, कुल, वर्ण और वर्ग के दृष्टिकोण से जो जितना निम्न है वह उतना ही अधिक शोषित है। महाजन सामान्यतया कुलीन होते हैं अतः उन्हें शोषण करने का पूरा लाइसेंस प्राप्त रहता है। जिसके पास धन भी है और कुलीनता भी वह दूसरों का पूर्ण रूप से शोषण करे तो भी हानि नहीं है। आखिर धर्म अर्थ के क्षेत्र में बड़े होने का उसे कुछ तो लाभ होना ही चाहिए। गोदान में होरी ने दातादीन महाराज से तीस रुपये ऋण लिये। पर सूद दर सूद मिलाकर अब उसे दो सौ अदा करना है। होरी किसान, अशिक्षित है। वह एक क्षण के लिए यह रुपया मुकर जाने का साहस नहीं रखता। तीस के स्थान पर दो सौ वह देने के लिए उद्यत होता है पर ईश्वर का कोप सहन करना उसकी शक्ति के बाहर की बात है ब्राह्मण का पैसा खा जाना उसके मान की बात नहीं है। पर गोबर तो आज का और इस जमाने का नवयुवक है। वह तीस के स्थान पर दो सौ देना धार्मिकता नहीं मूर्खता मानता है। गोबर के इंकार करने पर दातादीन महराज विचलित हृदय पर स्थिर मति के साथ कहते

हैं कि "यदि इस प्रकार का व्यवहार हुआ तो संसार कै दिन चलेगा.........। मगर यह समझ लो मैं ब्राह्मण हूँ और मेरे रुपये हजम करके तुम चैन की नींद न सोओगे।"

दातादीन का प्रहार मार्मिक रहा। बेचारा किसान होरी विचलित हो उठा। वह सोचने लगता है ब्राह्मण का पैसा दान दक्षिणा द्वारा अर्जित पैसा, सृष्टि के सर्वोच्च वर्ग की गाढ़ी कमाई का पैसा हजम न हो सकेगा। वंश नाश हो जायगा। फलाफूला परिवार विनष्ट हो जायगा। किसी बनिया-बक्काल का पैसा होता तो कोई बात नहीं है यह तो ब्राह्मण का पैसा है। भगवान इस अधर्मपूर्ण विचार से बचा दे। गोबर के दिल में यह कैसा अशुभ विचार जागरित हुआ है। इन विचारों के फलस्वरूप वह धर्मग्रस्त होरी क्षमा याचना के लिए दौड़कर मातादीन महाराज के पैरों में गिर पड़ता है और आर्तस्वर में निवेदन करने लगता है—

"महाराज! तुम्हारा रुपया लेकर मैं किस नरक में जाऊंगा जब तक जीता हूँ तुम्हारी एक एक पाई चुका दूँगा।"

यह है किसानों की रूढ़िगत धार्मिक भावना जो निरंतर उच्च वर्ग के शोषण के लिए सहायक बन जाती है। प्रेमचन्द ने कितनी सफलता पूर्वक किसान की मनोवृत्ति का वास्तविक चित्रण किया है। किसान के जीवन में प्रेमचन्द की अन्तर्दृष्टि कितनी पैठी हुई थी यह उक्त कथन से प्रकट हो जाता है।

वर्गभेद, जातिभेद, धार्मिक संघर्ष और शोषण की अभिवृद्धि में धार्मिक संस्थाएं बड़ी सहायता कर रही हैं। ये संस्थाएं

धर्म के नाम पर अधर्म, अनाचार और दुराचार का प्रसार प्रचार कर रही हैं। इन संस्थाओं में मठ, मन्दिर, मसजिद उल्मा, यतीम खाना, अनाथालय और वक्फ संस्थाएं हैं। कर्मभूमि में महन्त रामदास श्री बांकेविहारी जी के नाम पर सब प्रकार का अधर्म, अनर्थ और अत्याचार करते हैं। श्री बांकेबिहारी के नाम पर रुपया उधार उठाते हैं, और सूद की आमदनी से गुलछर्रे उड़ाते हैं। महन्त जी श्री बांकेबिहारी के नाम पर चेतू का वध भी कर डालते हैं परन्तु वह सब क्षम्य है इसलिए कि वह श्री बांकेबिहारी के धन को हड़प कर जाने का विचार करता है। 'सेवासदन' के संस्थापक विठ्ठलदास और ठाकुर द्वारे के अध्यक्ष चिम्मनलाल कौन सा दुराचार धर्म के नाम पर फैलाने का प्रयत्न नहीं करते हैं। धर्म की ओट में अनर्थ भी शुभ कार्य के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए श्री बांकेबिहारी जी के नाम पर मनुष्य की हत्या हत्या नहीं है। इसके प्रतिकूल महन्त जी के लिए यह पुण्य का कृत्य इसलिए है कि वे एक नास्तिक (चेतू) को उसकी कुभावनाओं के लिए दण्ड देना चाहते हैं। श्री बांकेबिहारी के ऐश्वर्य से महन्त श्री रामदास जी सुख और चैन से जीवन व्यतीत करते हैं, उन किसानों की मेहनत की कमाई पर जो लू और धूप भरी दोपहरी में मर-खप कर अनाज उपजाते हैं और जीवन की अपूर्ण साधों का भार कंधों पर लादे जीवन यात्रा अर्धमार्ग पर ही समाप्त कर देते हैं! 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द ने अनाथालयों और यतीमखानों का चित्रण किया है। ये संस्थाएँ जनता में करुणा की भावना का प्रसार करके जनता की गाढ़ी कमाई को दान के रूप में लेकर अपने सुख-सौख्य के प्रसाधनों पर व्यय कर देती हैं। यतीमखानों और अनाथालयों की स्थापना स्वार्थ पूर्ति के लिए होती है। 'प्रेमाश्रम' के सैयद ईजाद हुसैन ने इत्तहादी यतीमखाने की स्थापना की। इससे यतीमों

को जो फायदा हुआ वह तो नगण्य है पर सैयद ईजादहुसैन के परिवार के सदस्य और रिश्तेदारों को उसी यतीमखाने में धंधा मिल जाता है। यतीमखाने के माध्यम से प्रसिद्धि प्राप्त हो जाती है। यतीमखाने के संस्थापक के मुख से सफलता का वर्णन सुनिए:—

"तकदीर पर तो जिन्दगी का दारोमदार है। न किसी के नौकर न किसी के गुलाम। बस दुनिया में कामयाबी का नुस्खा है तो वह शतरंज बाजी है, आदमी जरा लस्सान हो, जरा मर्दुम सनारा हो और ज़रा गिरहबाज हो, बस उसकी चाँदी है। दौलत उसके घर की लौंडी है।"

सार्वजनिक और धार्मिक संस्थाओं के संस्थापकों के चरित्र का यह कच्चा चिट्ठा है। ऐसी नेतागीरी ही देश की नैतिकता को भ्रष्ट करने के लिए उत्तरदायी है। दुर्भाग्य यह है कि ऐसे ही नेता राजनीतिक एवं धार्मिक दोनों ही क्षेत्रों में छाये हुये हैं।

जो धर्म हमारे किसानों और साधारण जनता में प्रचलित है वह सामान्यतया रूढ़ियों से ग्रस्त और वाह्याचारों से अभिशप्त धर्म है। धर्म के मुख्य मुख्य कल्याणकारी सिद्धांतों को भुला (अथवा जान बूझ कर स्वार्थ साधना के लिए त्याग) कर उसके स्थान पर असत्य और टिटम्बा का समावेश कर दिया गया है। आज के युग में दान देना, ब्राह्मण खिलाना, कथा श्रवण, व्रत, आदि में ही धर्म मान लिया गया है। ग्राम समाज में बहु देववाद पुनर्जन्मवाद आदि आज भी भूत प्रेतोपासना के रूप में विद्यमान हैं। धार्मिक रूढ़ियों का यह विकृत रूप गोदान के दातादीन और मातादीन महराज में उपलब्ध होता है। धर्म की व्याख्या और उस की परिभाषा मातादीन महराज के मुँह से निःसृत निम्नलिखित वाक्यों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगी:—

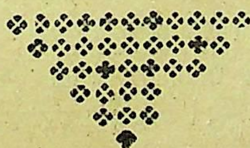
"......सत्यनारायण स्वामी की कथा सुनने, फल प्राप्ति की आशा करते हुए बड़े ही प्रेमभाव से भगवान के चरणामृत का पान करने, एकादशी व्रत करने, कुँवारी कन्याएँ खिलाने, ठाकुर पूजने, भिखारी को देने, तंत्र-मंत्र मानने और ब्राह्मण को भोजन कराने से ही धर्म का पालन होता है।"

इन शब्दों से स्पष्ट है कि हम धर्म के मूल रूप को बिसर गए हैं और बाह्याचारों में ही संलग्न रहते हैं। जिन सिद्धांतों से देश और समाज का हित होता है, उनको धर्म में कहीं स्थान नहीं मिलता है। पाप से बचना हो, प्रायश्चित करना हो, पुण्य का अर्जन करना हो बस धर्म के सस्ते नुस्खे को अपना लीजिये, बेड़ा पार है।

यह धर्मान्धता केवल किसान या अशिक्षित व्यक्तियों तक ही नहीं सीमित है, वरन 'कर्मभूमि' के समरकांत जैसे शिक्षित, वयोवृद्ध व्यक्ति भी इसके शिकार हैं। ठाकुर द्वारे में घुस आने के कारण अछूतों पर समरकांत जूते और गोलियां तक चलवा देने में संकोच का लेश मात्र अनुभव नहीं करते हैं परन्तु स्वतः सलीम के साथ बैठकर भोजन करते हैं। इसी प्रकार के पात्रों में "प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर और गायत्री भी उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में आदर्श धार्मिक व्यक्ति सूरदास है कर्तव्य भावना से प्रेरित, समाज तथा अपने ग्राम वासियों के लिए उसने आत्मोत्सर्ग तक कर डाला।

प्रेमचन्द कबीर के समान धर्म को वाह्याचारों और कृत्रिमता से मुक्त देखना चाहते थे।



प्रेमचंद और भारतीय नारी

एक जागरूक कलाकार अपने युग का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। देश एवं काल की स्थितियाँ एवं प्रवृतियाँ उसके साहित्य में लहरें लेती रहती हैं। जीवन का यह सूक्ष्मपर्यालोचक राष्ट्र को आलोकमय कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर करने के हेतु ध्रुव नक्षत्र का सा कार्य करता है। अतः उसका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक एवं संवेदनशील होता है। वह समाज एवं जीवन के प्रत्येक पहलू तथा अंग को निकट से परीक्षण कर अपनी कला के योग से उसे उन्नत बनाने के हेतु प्रयत्नशील रहता है। समाज के लिए नारी एवं पुरुष अनिवार्य है। इसी प्रकार कला एवं साहित्य में भी उनका अत्यन्त महत्वशाली स्थान है। साहित्य तथा नारी का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। प्रत्येक युग के हर एक देश का साहित्य इस भावना से ओत प्रोत तथा अनुप्राणित है। कलाकारों के दृष्टि कोण में अन्तर एवं भेद अवश्यम्भावी है पर समय तथा देश की सहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराई जा सकती हैं। साहित्य एवं कला न तो कभी नारी को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ सके हैं न उसे बिसर ही सके है। कलाकार ने सदैव ही नारी को कोमल भावना से देखा है और इस अनुभूति के आधार पर ही उसने नारी के मनोहर तथा आकर्षक चित्रों को अपनी तूलिका के द्वारा व्यक्त किया है। साहित्यकार ने प्रत्येक युग में नारी को एक अभिनव दृष्टि कोण से देखने का प्रयास किया है, कभी नारी उसके लिए एक पहेली रही, कभी पुस्तक का खुला हुआ पृष्ठ। कभी उसने नारी को आराध्या और

माता के रूप में देखा, तो कभी विलास के साधन के रूप में। कभी वह नारी के प्रति अत्यधिक उदार एवं अनुरक्त रहा तो कभी आवश्यकता से भी अधिक अनुदार एवं विरक्त। जहाँ एक ओर पुरुष को इन विषम दृष्टि कोणों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, वहाँ नारी भी इसका कारण अवश्य है। दृष्टि कोणों में भेद एवं एकांगीपन के लिए समान रूप से दोनों उत्तरदायी हैं। हिन्दी साहित्य के प्रत्येक युग में नारी एक भिन्न दृष्टिकोण से देखी गई। रीतिकाल तक पहुंचते पहुंचते नारी विलास, कामुकता और भोग की सामग्री मात्र रह गई थी। युग के साथ उस युग की मान्यताएं और मानदण्ड भी बदल जाते हैं। वर्तमान काल में साहित्यकारों ने प्रेरक शक्ति के रूप में नारी के दर्शन किये। प्रेमचन्द ने नारी को न केवल प्रेरक शक्ति के रूप में देखा वरन् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में कन्धा से कन्धा लगाकर कार्य करने वाले साथी के रूप में देखा। साहित्य और व्यावहारिक जीवन में उन्हें नारी अत्यधिक प्रगतिशील तथा कर्तव्य परायणा मिली है। व्यष्टि रूप में प्रेमचंद ने नारी को पत्नी, माता आदि पदों पर पाया है और समष्टि रूप में उसके स्वरूप में वह वस्तु देखी जो हमारे सामाजिक, राजनैतिक जीवन का स्पर्श करती है। अनुभूति एवं कल्पना की सम्मिलित शक्ति के आधार पर प्रेमचन्द ने नारी के मनोगत भावों का विश्लेषण और विवेचन किया है। प्रेमचन्द का महत्व इसलिए भी है कि उन्होंने नारी जीवन के सर्वांगीण पक्ष एवं व्यक्तित्व को ग्रहण किया है। एक मानव विज्ञान के वेत्ता रूप में प्रेमचन्द ने नारी के व्यक्तित्व के सभी पक्षों का अध्ययन किया, उसी गहन अध्ययन एवं अनुभूति के आधार पर उन्होंने नारी जीवन के जिन सुन्दर चित्रों को अंकित किया है वे बहुत समय तक पुराने न होंगे। उन्होंने नारी हृदय को

उन शाश्वत भावनाओं को लेकर उपन्यास और कहानियों की कथा को बल दिया है जो युगों से उपेक्षित रहे हैं।

हिन्दी साहित्य कारों ने भिन्न २ युगों में नारी को भिन्न २ दृष्टिकोण से देखा है। कभी वह योग साधना में सहायक, सृष्टि की विधायिनी पवित्र शक्ति तथा स्नेह की आगार भगिनी के रूप में देखी गई और कभी वह नितांत भोग्य, शृंगार, तथा कामिनी के रूप में देखी गई है। सिद्ध साहित्य में नारी के दो रूप व्यक्त हुए हैं एक रूप त्याग एवं सेवा का है द्वितीय उपभोग की सामग्री। नारी के व्यक्तित्व का यह द्वितीय रूप अधिक प्रखर रहा और इसीलिए सामाजिक मर्यादा के साथ ही नारी संबन्धी भावना पतन के मार्ग पर अग्रसर रही। वीरगाथा काल में अनेकानेक युद्ध सुन्दरी राजकुमारियों के लिए ही हुए। इस युग की समस्त चेतना दो शब्दों पर केन्द्रित हो जाती है एक है वीरता और दूसरी है शृंगार। वीरता का अवसान शृंगार और विलास में होता था। इस युग की नारी का प्रेम वीरता का आलम्बन चाहता था। पर अन्ततोगत्वा युद्ध क्षेत्र में सहस्रों नर-बलिदान के अनन्तर प्राप्त नारी ऐन्द्रिक पिपासा को शांत करने का साधन मात्र रह जाती थी। विद्यापति की राधा में तत्कालीन नारी भावना मानों झांक सी रही है। भक्तियुग के कवियों में भी नारी विषयक दो प्रकार की भावनाए उपलब्ध होती हैं। निर्गुण भक्तों ने बड़ी ईमानदारी के साथ साधना में बाधक नारी की आलोचना की उसे बाघिनी, सर्पिणी आदि शब्दों से सम्बोधित किया। परन्तु उसके सती रूप की प्रशंसा उन्मुक्त कण्ठ से की। सगुणवादी कवियों ने केवल वर्गीय नारी स्तुति की है। कैकेई, कौशल्या, सुमित्रा आदि की जो प्रशंसा हुई है वह इस कारण कि अयोध्या के शासक

महाराज दशरथ की राज्य महिषी तथा रघुकुल तिलक महाराज रामचन्द्र की माता हैं अन्यथा नारी की भर्त्सना और कटुतम आलोचना तुलसी ऐसे महाकवि भी करने में संकोच का अनुभव नहीं करते हैं। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने राधा में प्रेम का आदर्श स्थापित किया, जो कालान्तर में मुगलों की विलासिता में उद्दीपन मात्र बन गया। रीति कालीन कवियों के हाथ में पड़कर नारी की जो छीछालेदर हुई उससे हिन्दी का कौन विद्यार्थी अभिज्ञ है। असर्यादित, असंयमित, असंतुलित, छिछले और ओछे प्रेमों का जितना विस्तृत वर्णन इन कवियों ने किया है वह अन्यत्र सम्भव नहीं हो सका। श्रीमानों और सामन्तों की कृपा के भिखारी इन कवियों की दृष्टि में नारी केवल खिलवाड़ की सामग्री मात्र रह गई थी। रीति काव्य से नारी की तत्कालीन दशा उद्‌घाटित होती है। अतः इस युग में सौंदर्य सम्पन्न होते हुए भी नारी, कामिनी, विलासिनी, निष्क्रिय, मनोरंजन की साधन बनकर तथा अपदस्थ सी थी। परन्तु भारतेन्दु युग के उदय के साथ इस भावना में भी महान परिवर्तन हो गया। इस समय जीवन साहित्य और कला का आधार बन गया और साथ ही साहित्य की विधायिनी शक्ति में बड़ा सराहनीय विकास हो गया। इस युग के कलाकारों ने जीवन के सर्वांगीण पक्षों पर दृष्टिपात किया और नारी के जीवन को सम्मानित दृष्टिकोण से देखा। भारतेन्दु ने नारी के चेतनाहीन एवं अपमानित व्यक्तित्व को हार्दिक समवेदना से देखकर लिखा था, "जिस भांति अंग्रेज स्त्रियां सावधान होती हैं, अपने सन्तान गण को शिक्षा देती हैं ·····उसी भाँति हमारी गृह देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था का उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें; यही लालसा है" (भारतेन्दु नाटकावली प्रथमभाग पृष्ठ १०५) भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' में नारी के जिस स्वरूप की अभिव्यक्ति की है वह अत्यन्त गौरवपूर्ण है। भारतेन्दु युग के अन्य

उपन्यासकारों ने सामन्तों की प्रेमलीला के सम्बन्ध में ऐयारी तिलस्मात तथा कौतूहल से पूर्ण जिस कथा का वर्णन किया है उसमें नारी अधिक सम्मानित स्थान नहीं प्राप्त कर सकी। ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा स्वप्न' इंशा के 'रानी केतकी की कहानी' तथा अन्य लेखकों की 'चपला' 'कुसुमकुमारी' 'नयन मोहनी' 'चन्द्रकांता' 'गुलबदन' 'तारा' 'नूतन ब्रह्मचारी' 'सौ अजान का एक सुजान' आदि में नारी का जो स्वरूप व्यक्त हुआ है वह संक्षेपत: काल्पनिक, कुलटा, कामिनी, एकांगी, और विलास पूर्ण है। भारतेन्दु युग की नारी भावना में व्यापक भावना, संयम और चरित्र विकास का अभाव है। अंग्रेजी और बंगला साहित्य के प्रभाव में आकर द्विवेदी युग के साहित्यकारों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक और उदार बन गया। कवियों में निराला, मैथिलीशरण गुप्त, और हरिऔध ने नारी को बड़ी ही संवेदनाशील भावना से देखा। मानवतावाद, स्वच्छन्दतावाद, बुद्धिवाद और यथार्थवाद के सहारे इस युग के कलाकारों ने चेतना जाग्रति और औदार्य के चित्रपट पर नारी के सुन्दर चित्रों को अंकित किया है। इन्होंने नारी को जाग्रत करके उसके कान में क्रांति और नवजीवन का संदेश सा फूँक दिया। आज नारी कामिनी मात्र ही नहीं है वह बल, त्याग, साहस, ममत्व, और प्रेरणा की स्रोत भी है। प्रेमचन्द ने नारी के इसी स्वरूप को अपने उपन्यासों में अंकित किया है। उन्होंने नारी के चरित्र में स्वाभाविक दृष्टि से उज्ज्वल पक्ष को भी देखा और चरित्र के दुर्गुणों की भी व्याख्या की। संक्षेपत: प्रेमचन्द ने नारी को एक सहृदय मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से देखा है।

साहित्यकार युग की देन होता है। अतीत उसे अनुभव प्रदान करता है, भविष्य उसमें आशा का संचार कर प्रगतिशील बना देती है। परन्तु युग साहित्यकार का निर्माण करता है। साहित्य-

कार युग चेतना से प्रभावित रहता है ! साहित्यकार की रचना युग की परिस्थितियों से प्रभावित रहती है। प्रेमचन्द का नारी चित्रण भी युग की परिस्थितियों का प्रसाद है। प्रेमचन्द अपने युग की चेतना से प्रभावित थे और उन्होंने युग चेतना को भलीभाँति आत्मसात कर लिया था परन्तु इतना सब होते हुए भी वे अपने युग से ऊपर उठे हुए थे। दूसरे शब्दों में वे अपने युग के अभाव की पूर्ति थे। प्रेमचन्द ने शोषक और शोषित की करुण गाथा लेकर साहित्य के क्षेत्र में उपन्यासों के प्रसाद का जो निर्माण किया है उसमें नारी का जो भी चित्रण आया है वह बड़ा सफल एवं व्यक्तित्व पूर्ण है। जमींदार-किसान, मजदूर-मिलमालिक, साहूकार महाजन-कर्जी किसान के संघर्ष चित्रण में नारी को गौण स्थान प्रदान करते हुए भी प्रेमचन्द ने उसे व्यापक और विशद रूप प्रदान किया है।

प्रेमचन्द के युग में देश की आर्थिक दशा अत्यधिक असंतोष-पूर्ण थी। उस युग के किसानों की दशा शोचनीय थी। किसानों के पास धन उगलने वाली धरती अवश्य थी, पर उसका वैभव महाजन और ज़मींदार भोग रहे थे। निरंतर शोषण और आर्थिक वैषम्य के कारण किसानों का जी अत्यधिक संकट ग्रस्त था। आधी रोटी खा कर और आधी धोती पहन कर जीवन के दिनों का निर्वाह करने वालों किसानों के दारिद्र्य ग्रस्त और अभिशप्त जीवन का निकट से उन्हें अनुभव था। कृषकों के आर्थिक वैषम्य के प्रभाव से नारी वंचित न रह सकी। गोदान की धनिया और प्रेमाश्रम की—आर्थिक संघर्षों की सृष्टि थी। 'प्रतिज्ञा' 'बरदान' तथा 'सेवा सदन' के अतिरिक्त अन्य शेष उपन्यासों में प्रेमचन्द ने कृषक-दम्पति की इसी आर्थिक दुर्दशा का चित्रण किया है। इन्डियन नेशनल कांग्रेस ने किसानों की दुर्दशा से प्रभावित होकर

देश दशा में सुधार करने के हेतु सत्याग्रह आंदोलन प्रारम्भ किया। प्रेमचंद इस बात से अभिज्ञ नहीं थे। पूँजीपतियों के इस शोषण के पीछे और दारिद्रय के अकांड तांडव की ओट में अंग्रेजों की सत्ता का प्रमुख हाथ है। वे देश की इस सामूहिक जाग्रति और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कारादि से पूर्ण परिचित थे इसीलिए कर्मभूमि और रंगभूमि में तत्कालीन वातावरण चित्रित हुआ है। कर्मभूमि की मुन्नी नैना एवं सुखदा गांधी जी के आंदोलनों से प्रभावित थीं। प्रेमचंद स्त्री स्वातंत्र्य के संबंध में सुधारवादी दृष्टिकोण रखते थे। परदा, वेश्यावृत्ति, बालविवाह, वैधव्य आदि कुरीतियों से भली भाँति परिचित थे। सेवा सदन में नारी जीवन की समस्याएँ साकार हो उठी हैं। प्रेमचंद के इस उपन्यास को पढ़ जाने के अनन्तर हमारी आखें खुलती हैं और हम सोचते हैं अरे नारी इतनी अभिशप्त रही है। गोदान की 'धनिया' भारतीय नारी की प्रतीक है जो आजीवन अधखाए और अर्ध नग्न रह कर परिवार के हित के लिए स्वव्यक्तित्व का बलिदान कर देती है। साम्यवाद ने भारत में जिस नारी एवं पुरुष की समानता का संदेश जनता के कान में फूँका था, उससे प्रेमचंद प्रभावित थे और इसीलिए उन्होंने आडम्बरों और चरित्र के मिथ्या पक्ष की तीव्रालोचना की।

प्रेमचंद का नारी चित्रण इस बात का द्योतक है कि उन्होंने नारी का अध्ययन निकट से किया था। नारी का चित्रण करते समय उनका ध्यान पूर्णरूपेण आदर्शोन्मुख यथार्थवाद पर रहा था। उन्होंने नारी के चरित्र को अंकित करते समय उसके मानसिक संघर्ष, अन्तर्द्वंद्व का जो चत्रिण किया है वह नारी की अनेक समस्याओं को प्रकट करता है। प्रेमचन्द की नारी पारिवारिक तथा सामाजिक

संघर्षों के मध्य और भी निखरी और स्पष्ट बन गयी है। भारतीय नारी का व्यक्तित्व कौटुम्बिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा है। चूल्हा चौका ही उसके जीवन का ध्येय रहा है। जो स्वतंत्रता उसने यवनों के आने के साथ खो दी थी वह आज तक उसे फिर न मिल पाई। इस स्वातंत्र्य अभाव का प्रभाव उसके शारीरिक और मानसिक विकास पर भी पड़ा। प्रेमचन्द संयम और मर्यादा के समर्थक थे और इसी कारण उनके 'गबन' में जालपा के चरित्र का विकास उस समय से होता है जब वह रमानाथ को उन्मुक्त कराने के हेतु घर से निकल कर बाहर संघर्ष करती है। रंगभूमि में सोफी भी इसी का उदाहरण है। प्रेमचन्द नारी की स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। समाज चाहे जितना भी उन्नत बन गया हो पर दहेज प्रथा का अन्त आज भी नहीं हो पाया है। प्रेमचन्द इस ओर से भी अत्यधिक चिंतित थे। उनकी निर्मला और सुमन इसी विनाशकारी कुप्रथा की शिकार बनीं। बहुविवाह समस्या की ओर भी लेखक का ध्यान गया था। कायाकल्प में राजा साहब चार विवाह करके भी नहीं अघाते प्रतीत होते हैं। रोहिणी इसके विरुद्ध विद्रोह करती है "...... आपने वही किया जो सभी स्त्री पुरुष करते हैं। और लोग छिप छिपकर करते हैं, राजा लोग वही काम खुले खुले करते हैं। स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है कभी उनके पांव की जूती। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है...... ।" प्रेमचन्द नारी की ओर अधिक व्यापक, उदार और क्षमापूर्ण दृष्टिकोण की आशा रखते थे। बाबा तुलसीदास की भांति उन्होंने नारी को ताड़ना की सामग्री मात्र नहीं माना वरन उसे पुरुष के अभाव की पूर्ति, स्नेह का आगार, मानवता की पूर्ति, औदार्य की साक्षात देवी जगत की जननी एवं भगिनी के रूप में भी देखा और पाया था। स्त्री पुरुष को संतुलित करने का माध्यम है। वह अकर्मण्य को कर्म क्षेत्र की ओर प्रवृत्त करने के लिए अद्वितीय

साधन है । प्रेमचन्द की सोफी, सुमन, जालपा, मनोरमा, धनिया, मुन्नी और सुखदा ऐसे ही पात्रों का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती हैं। प्रेमचन्द ने हिंदू विधवा नारी के सामाजिक अधिकार का भी समर्थन 'गबन' में किया था। 'रतन' धनी वकील की पत्नी होते हुए भी विधवा होते ही पैसे पैसे के लिए मोहताज हो जाती है और उसका भतीजा मणि भूषण समस्त चल और अचल सम्पत्ति का अधिकारी बन जाता है। इसी प्रकार के नारी पात्रों में 'पूर्णा' भी उल्लेखनीय है। पति के देहावसान के अनंतर वह अपने ही घर में कमला चरण की दासी के समान जीवन यापन करती है। स्वावलम्बन मानव की आदिम प्रवृत्ति है और नारी इसका अपवाद नहीं है। प्रेमचंद नारी के स्वावलम्बन के समर्थक थे। उनकी सुमन को जब समाज में सम्मानित रूप से जीवन यापन का अवसर न मिला तो उसने वेश्यावृत्ति के द्वारा जीवन यापन का उपाय खोज निकाला। धनी परिवार की सुखदा स्वावलम्बन के लिए ही नौकरी कर लेती है। अहिल्या कलम की मेहनत से परिवार चलाती है और 'मालती' भी स्वावलम्बन के द्वारा अपने परिवार की रक्षा करती है। पर कतिपय नारीपात्र ऐसे भी हैं जो इच्छा रखते हुए भी स्वावलम्बन में सफल नहीं हो पाते। इस कोटि के पात्रों में रतन तथा जोहरा का उल्लेख आवश्यक हो जाता है। इसके लिए कौन उत्तरदायी है—समाज या सरकार ? इसके अनन्तर भारतीय नारी के पारिवारिक जीवन का उल्लेख आवश्यक है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि गृह लक्ष्मी होते हुए भी वह अपमानित है और गृह स्वामिनी होते हुए भी दासी की भाँति जीवन व्यतीत करती है। समाज में व्यक्तित्व प्रकाशन और कर्म क्षेत्र में अवतरित होना उसके लिए कलंक बन गया है। प्रेमचन्द ने नारी को उन्नतिशील

और समाज में पुरुष की अर्द्धांगिनी के रूप में देखा था। प्रेमचंद की दृष्टि में नारी पुरुष की सहचरी ही नहीं वरन् अर्द्धांगिनी भी है। विवाह और प्रेम के सूत्रों में दो व्यक्तियों के बंध जाने के अनन्तर उनमें शारीरिक पार्थक्य भले ही होजाय पर आध्यात्मिक पार्थक्य कभी भी सम्भव नहीं है। पाश्चात्य देशों की तलाक प्रणाली पर उन्हें विश्वास नहीं था। 'सुखदा' और 'अमर' के पथ भिन्न भिन्न हैं। अपने कलहपूर्ण जीवन से ऊबकर सुखदा कहती है "मैं कुलकी मर्यादा के नाम को रोया करूँ, लेकिन यह अत्याचार बहुत दिन न चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे उसकी स्त्री उसके पांव धो धोकर पियेगी।" सुखदा तलाक शब्द से भी परिचित है वह कहती है "अगर देख भाल कर विवाह करने में कभी कभी धोखा हो सकता है तो बिना देखे भाले करने में बराबर धोखा होता है। तलाक की प्रथा यहां हो जाने दो फिर मालूम होगा कि हमारा जीवन कितना सुखी है।" उपर्युक्त उद्धरण में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रेमचन्द वर और कन्या दोनों के एक दूसरे को विवाह के पूर्व परख लेने के पक्षपाती थी। सुखदा की ही भाँति गोदान की गोविन्दी भी तलाक के प्रश्न को गम्भीरतापूर्वक सोचती है। उसके पति मिस्टर खन्ना उसके प्रति उदासीन ही नहीं विमुख हैं। अंततोगत्वा गोविन्दी एक दिन घर त्याग देने के हेतु उद्यत होती है। इसी प्रकार गोदन के राय साहब की पुत्री मीनाक्षी भी अपने पति के प्रति गुजारे का दावा दायर करती है। पर प्रेमचन्द तलाक को पारिवारिक जीवन में शांति का साधन नहीं मानते हैं। उनके अनुसार दाम्पत्य जीवन में प्रेम का अंकुर सेवा त्याग के बल पर ही विकसित हो सकता है। गोविन्दी अपने त्याग और सेवा के बल पर ही मिस्टर खन्ना का प्रेम प्राप्त करती है और इसी प्रकार सुखदा और अमर अपनी भूलों पर पश्चाताप

करके पुनः ऐक्य के सूत्र में निबद्ध हो जाते हैं। प्रेमचन्द को तलाक अपनी संस्कृति के प्रतिकूल और स्वादर्शों से नितांत भिन्न प्रतीत होता था। पर इसका यह आशय नहीं कि नारी अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह न करे। विवाह के क्षेत्र में प्रेमचन्द अन्तर्राष्ट्रीयता के भी समर्थक थे। धर्म भेद विवाह के क्षेत्र में बाधा नहीं है, इसीलिए सोफी और विनय बाधाओं के होते हुए भी प्रेम के सूत्र में बंध गये। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने हिन्दू विधवा के करुण दयनीय और अतृप्त प्रेम का भी विशद चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। हिन्दू विधवा समाज में अनादृत, अशुभ और हेय समझी जाती है। 'गायत्री' एवं 'पूर्णा' के चरित्र चित्रण में उपन्यासकार ने इन्द्रिय दमन के विकृत परिणामों का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। प्रेमचन्द ने इन्हीं प्रसंगों में वैधव्य जीवन की कुंठित अभिलाषाओं और सामाजिक अत्याचारों का भी वर्णन करके पाठकों की सहानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। क्या यह सत्य नहीं है कि भग्न आशा, विवश एवं निःसहाय नारी सर्वथा सहायता और सहानुभूति की पात्र होती है। प्रेमचन्द का व्यक्तिगत जीवन इस बात की पुष्टि करता है कि वे विधवा विवाह के समर्थक थे। वेश्यावृति नारी के स्वावलम्बन का निम्नतम स्वरूप है, प्रेमचन्द इसे (वेश्यावर्ग) को समाज का गलित अंग मानते थे। वे वेश्या को नारीत्व का सबसे बड़ा अपमान, सबसे बड़ा अनादर, और सबसे निम्न पतन मानते थे। 'सेवा सदन' में नारी की यही वेश्या समस्या सविस्तार चित्रित हुई है। यह वेश्या वर्ग युग युग से पुरुष की काम क्रीड़ा और समाज की घृणा का विषय रही है। 'गोदान' में भी तंखा और मेहता में वेश्या समस्या पर वादाविवाद होता है। 'गबन' में वेश्या जोहरा का चित्रण हुआ है। उल्लेखनीय बात यह है कि प्रेमचन्द ने जितनी भी

वेश्याओं का चित्रण किया है उन सभी में विवेक बुद्धि है और सदासद का ज्ञान है। सुमन और जोहरा दोनों ही वेश्यावृत्ति का परित्याग करके सम्मानित जीवन व्यतीत करने लग जाती हैं। नैतिकता का महत्व दैनिक जीवन में कितना महान और व्यापक है इस बात को प्रेमचन्द की सभी वेश्यापात्र जानती हैं।

'प्रेमचन्द के विचार' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा जा चुका है कि साहित्य हो वा जीवन प्रेमचंद प्रत्येक दिशा में 'उपयोगिता' का ध्यान रखते हैं। प्रेमचंद के अनुसार वही साहित्य उच्च है, वही साहित्य महान है जो मानवता के लिए कल्याणकारी हो, जो ध्रुवतारा के समान पथ भ्रष्ट मानवता को मार्ग प्रदर्शित कर सके, जो जन जन के हृदय में आशा का संचार कर सके। सौंदर्य के परम्परागत मापदन्ड में प्रेमचंद को विश्वास नहीं था। अपने उपन्यासों के नायकत्व के हेतु धीरोदात्त पात्रों को नहीं खोजने का प्रयत्न किया वरन् निम्न वर्गीय उन नर-नारियों को नायक एवं नायिका बनाया है जिनके चरित्र में सौंदर्य, ईमान की कमाई खाने की प्रवृत्ति, बौद्धिक विकास एवं मानसिक सम्वेदना उपलब्ध होती है। इससे अभिजात वर्ग को बारम्बार ठेस लगी। भले ही प्रेमचंद एक ह्रासोन्मुख सीमित वर्ग के लिए अप्रिय बन गए हों पर उन्होंने दलित मानवता को उठाने का प्रयत्न किया, उन्होंने वंचित और शोषित समाज और व्यक्ति की हिमायत और वकालत की। प्रेमचन्द के मत से वही सच्चा साहित्यकार है जिसकी "विशाल आत्मा अपने देश बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता में वह रो उठती है और उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।" इन सूत्रों की घोषणा करने वाले प्रेमचन्द ने जन उद्बोधन के लिए इन आदर्शों की संस्थापना की परन्तु आदर्शों के रहस्योद्घाटन के हेतु उन्हें यथार्थ बहुत प्रिय था। इसी यथार्थ का आधार

लेकर प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य लिखा गया था। प्रेमचन्द के नारी पात्र इसके अपवाद नहीं हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ से पुरुष का नारी से अविच्छिन्न सम्बन्ध रहा है। दोनों एक दूसरे के पूरक रहे हैं। नारी के अभाव में पुरुष और पुरुष के अभाव में नारी की स्थिति कल्पनातीत होती है। नारी पुरुष की जननी, पुत्री, भगिनी, सहचरी, पत्नी और प्रेयसी के रूप में सम्मान्य रही है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी का कोई न कोई महत्वपूर्ण स्थान रहा है और रहेगा। प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी के प्रेयसि, मातृत्व एवं सहचरी अथवा अर्द्धांगिनी का रूप अधिक निखरा है। नारी के इन तीनों रूपों के चित्रण में, आशा एवं निराशा, सुख एवं दुख का एक विचित्र प्रकार का सम्मिश्रण उपलब्ध होता है। इसका एक कारण है। प्रेमचन्द का जीवन स्वत: इस रहस्य या पहेली का उत्तर था। नारी की ओर से उन्हें जीवन में सुखद और कटु दोनों प्रकार के अनुभव हुए थे। और यही सुख और दुख की मिली हुई धारा गंगा जमुनी के रूप में उनके साहित्य में संयमित रूप से प्रवाहित हुई। प्रेमचन्द का जीवन बतलाता है कि बाल्यावस्था में ही वे माता की प्रेममयी गोद से वञ्चित रहे और विमाता के कटु व्यंग बाणों का लक्ष्य निरंतर बनना पड़ा। अर्द्धांगिनी के रूप में जो प्रथम पत्नी उन्हें मिली वह केवल कुरूप ही नहीं थी वरन अवस्था में बड़ी और विचारों में नितांत प्रतिकूल। यह विवाह अनमेल था। तदनन्तर उन्होंने एक बाल विधवा से विवाह किया। इन द्वितीय पत्नी श्रीमती शिवरानी जी में उन्हें अपना खोया हुआ सभी कुछ प्राप्त हो गया। प्रेमचन्द के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय सभी प्रकार के विचारों की समानान्तर भावना शिवरानी देवी में वर्तमान थी। इसीलिए इन अनुभूतियों के आधार पर प्रेमचन्द ने विमाता, अनमेल विवाह, तलाक आदि के जो चित्र अंकित

किये हैं वे यथार्थ के आधार पर व्यक्त होने के कारण कभी फीके नहीं पड़ेंगे। लेखक की यह अनुभूतियां, कल्पना लोक अथवा दार्शनिक के मानसिक लोक की अनुभूतियां नहीं थी वरन् उनका यथार्थ जीवन से निकट एवं घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी कारण प्रेमचन्द के पात्रों में (चाहे नारी हो या पुरुष) दार्शनिक का सा मानसिक संघर्ष न हो तो कोई आश्चर्य नहीं, कवियों की सी कल्पना लोक की अभिव्यक्ति न हो पर उनमें जीवित रहने के लिए साध है और उसी साध के लिए वे संघर्ष करते हैं। उनमें वेदना है और संवेदना भी है उसका मूल केन्द्र मानवता ही है।

मानव जीवन के दो पक्ष होते हैं। प्रथम पारिवारिक पक्ष है। पारिवारिक पक्ष के अन्तर्गत गार्हस्थ जीवन के विभिन्न रूप दर्शनीय होते हैं और सामाजिक जीवन में समाज के दृष्टिकोण से उसका चरित्र भिन्न भिन्न दृष्टियों से अध्ययनीय होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में नारी के दोनों ही रूप सविस्तार व्यक्त हुए हैं। दोनों ही दृष्टियों से नारी के चरित्र का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यहां पर सर्व प्रथम हम नारी जीवन के उस पारिवारिक पक्ष का अध्ययन करेंगे जिसका चित्रण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के अन्तर्गत किया है।

नारी के विषय में प्रेमचन्द अत्यधिक सुधारवादी थे। रीतिकालीन नारी की शृंगारिक भावना से उन्हें बड़ी घृणा थी। इस विषय में उनका 'साहित्य का उद्देश' पठनीय होगा। प्रेम मानव हृदय की शाश्वत स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्ति है। उसी प्रेम को लेकर रीतिकालीन कवियों ने नारी की अवमानना की है। प्रेमचन्द ने रीतिकालीन कवियों के इस दृष्टिकोण की तीव्र आलोचना की है। प्रेमचंद प्रेम को नारी

की अदम्य और अलौकिक शक्ति मानते थे। उनके मत से प्रेम ही वह ज्योति है जिसके सहारे नारी जीवित रहती है, यही उसकी आत्मा का बल है। प्रेमचन्द के नारी पात्रों के हृदय में प्रेम की यही प्रवृत्ति चरित्र विकास में सहायता प्रदान करती है। इसी प्रेम को लेकर प्रेमचन्द ने नारी को अपने उपन्यासों में प्रेयसि, पत्नी एवं माता के रूप में व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रेयसि के रूप सकीना, और सोफी (रंगभूमि), विरजन (वरदान), मनोरमा (कायाकल्प), झुनिया, सिलिया और मालती (गोदान), गायत्री (प्रेमाश्रम) आदि का चित्रण हुआ है। पर इन सभी में सोफी का चित्र और चरित्र सबसे अधिक स्पष्ट और रोचक है। इन चरित्रों में उपन्यासकार ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रेम विषयक विभिन्न मनोविकारों के उद्रेक के अनन्तर प्रेयसि रूप में नारी के प्रति समाज, व्यक्ति और जनता की कैसी भावनाएँ, विचार और मनोवृतियां होती हैं। प्रेमचन्द की रचनाओं में प्रेयसियों का विधान प्रसाद की प्रेयसियों की भांति अन्तर्द्वन्द्व के विवेचन के हेतु नहीं हुआ है। उनमें वासना प्रेम अवश्य है परन्तु इस वासना का भी जीवन और हृदय से सम्बन्ध है। इन प्रेयसि पात्रों का प्रेम नितांत स्वार्थ के आधार पर ही नहीं निर्मित हुआ है। उनमें बलिदान की भावना है, कष्ट सहन की प्रवृति है। वे अपने प्रिय के लिए अपने स्वार्थ और जीवन को तुच्छ समझती हैं।

प्रेमचन्द के नारी पात्रों में प्रेम का विकास स्वाभाविक और क्रमिक होता है। उसका उद्रेक किसी विशेष क्षणिक घटना के आश्रित नहीं है, संसार के विविध कार्यों, संघर्षों और कर्तव्यों के निर्वाह के मध्य ही प्रेम का बीज अंकुरित होता है। प्रेम का आरम्भ उभय पक्षों में प्रायः सम है। इस प्रेम के विकास और

उत्पत्ति में रूप लिप्सा और साहचर्य दोनों का ही सहयोग है। 'विरजन' में बाल्यावस्था से ही दुलहिन बनने की भावना जाग्रत हो उठती है। मनोरमा के हृदय में चक्रधर के प्रति प्रेम का विकास विचार विनिमय और उससे पढ़ने के कारण क्रमिक रूप में होता है। सोफी के प्रेम का विकास विनय की कर्मठता एवं कर्तव्य परायणता के कारण होता है। सोफी के विशुद्ध प्रेम के समक्ष जाति और धर्म के निःसार बन्धन विछिन्न हो जाते हैं। सोफी के ही शब्दों में "प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है जितना कंचन और काँच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है...... भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवा भाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है। ऐसी बाधाएँ उस मनोभाव के लिए हैं जिसका अन्त विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं जिसका अन्त बलिदान है।" प्रस्तुत पंक्तियों से सोफी का प्रेयसि रूप अत्यधिक स्पष्ट है। प्रेम का अन्तिम लक्ष्य वह विवाह का सम्बन्ध नहीं मानती वरन् त्याग तथा बलिदान मानती है। इन पक्तियों में वासना पर कितना प्रबल व्यंग व्यक्त हुआ है। सोफी प्रेम को क्रय विक्रय और भौतिकता की साधना का माध्यम नहीं बनाना चाहती:—"प्रेम एक भावनागत विषय है। भावना से ही उसका पोषण होता है। भावना ही से वह जीवित रहता और भावना से ही लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। 'तुम मेरे हो' यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सहिष्णु रखने के लिए काफी है।" इन पंक्तियों को पढ़ जाने के अनन्तर प्रेमचन्द के प्रेयसि पात्रों के हृदयस्थ प्रेम के विषय में क्या अब कोई सन्देह रह जाता है। प्रेम की पद्धति नितांत भारतीय है जहाँ स्वार्थ की लेशमात्र भी गंध नहीं है। भारतीय प्रेम आत्मा के लगाव, नैकट्य में विश्वास रखता है। इसी प्रकार 'मनोरमा'

का प्रेम है। मनोरमा के प्रेम का विकास श्रद्धा एवं भक्ति से होता है। क्रमशः यही भावना दृढ़ प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। मनोरमा ने चंक्रधर की कर्त्तव्य और सेवा भावना को जन सेवा के लिए सुरक्षित रखने के लिए 'राजा विशालसिंह' से विवाह करके अपने स्वार्थ का बलिदान कर दिया। मनोरमा ने वरदान की तिलांजलि देकर अभिशाप को अंगीकार किया पर प्रतिदान की आशा को हृदय में स्थान न दिया।

प्रेमचन्द के नारी पात्र प्रेम के क्षेत्र में मर्यादा और संयम का ध्यान आद्योपांत रखते हैं उनमें विद्रोही भावनाओं का सर्वथा अभाव है। समाज, परिवार, लोक व्यवस्था, या कानून के नियमों में से किसी की भी अवहेलना अथवा तिरस्कार करते हुए नहीं दीख पड़ती हैं। सोफी, विरजन, मनोरमा तथा गायत्री आदि अन्य पात्र सामाजिक नियंत्रणों को स्वीकार करती हुई भी प्रेम पथ पर अग्रसर रहती हैं। प्रेम पथ की अनेक बाधाओं को ये नारीपात्र विद्रोही प्रवृत्ति से विनष्ट करने का प्रयत्न नहीं करते।

प्रेमचन्द को नारी हृदय के बल, सामर्थ्य, त्याग और क्षमता पर बड़ा विश्वास था। उन्हें ज्ञात था कि प्रेम नारी हृदय का चिर सत्य है फिर भी वह देश और समाज के हित के लिए अपने स्वार्थ की हत्या कर सकती हैं। 'वरदान' की 'माधवी' इस प्रकार के प्रेम के लिए विशेष उल्लेखनीय है। प्रताप के लिए माधवी के हृदय में असीम प्रेम है चिर विरह के अनन्तर मिलन के क्षणों के पूर्व ही वह कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर स्वार्थ का बलिदान कर देती है।

प्रेम के क्षेत्र में नारी एक निष्ठता की अकांक्षा रखती है। वह ऐसे प्रेम की कामना करती है जिसके सहारे वह अपना जीवन यापन कर सके। भारतीय नारी प्रेम के क्षेत्र में जुगुनू की चमक नहीं

वरन स्थायी प्रकाश की अपेक्षा रखती है। गोदान की झुनिया तथा सिलिया निर्धन है अशिक्षित है पर प्रेम का महत्व और गम्भीरता समझती हैं। झुनिया और सिलिया ने प्रेम करके कितने ही कष्टों को सहन किया, समाज के अत्याचार शिष्टजनों की भर्त्सना तथा स्वजनों की घृणा को सहन किया पर एक निष्ठा छोड़ कर दूसरे मर्द का हाथ पकड़ना न स्वीकार किया। यही तो भारतीय प्रेम का सच्चा आदर्श है।

पाश्चात्य सभ्यता हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करती जा रही है। पाश्चात्य नारी की होड़ में अपने अस्तित्व को नष्ट कर देने वाली भारतीय नारी को देख कर प्रेमचन्द का चित्त क्षुब्ध हो उठता था। उनका दृढ़ विचार था कि पाश्चात्य नारी और कुछ भी बन सकती है पर सफल गृहस्वामिनी नहीं बन सकती है। पाश्चात्य नारी की नकल करने में अपने को भाग्यवती समझने वाली इस देश की नारियों को भोग की विदग्ध लालसा ने अत्यन्त उच्छृंखल बना दिया है। गोदान की मालती इसी प्रकार की नारियों में है! वह तितली बन कर जीवन का आनन्द लूटना चाहती है। प्रेम को वह खिलवाड़ समझती है। स्वच्छन्दता उसे प्रिय है और एकनिष्ठा में उसका अविश्वास है! मि० मेहता से प्रेमचन्द ने इस प्रकार की नारियों की कटु आलोचना करवाई है।

प्रेमचन्द की इन्हीं प्रणयिनी नारियों का व्यक्तित्व कौटुम्बिक, सामाजिक एवं गार्हस्थ जीवन के मध्य में और भी अधिक निखर आता है। समाज, परिवार और कुटुम्ब के मध्य नारी के व्यक्तित्व का विकास पत्नी वा अर्द्धांगिनी के रूप में होता है। इन गृहदेवियों की ओर भी प्रेमचन्द का ध्यान सविस्तार गया है। उन्हें नारी के इस त्याग, क्षमा तथा औदार्य पूर्ण रूप में बड़ी श्रद्धा थी। उनके

उपन्यासों में व्यक्त इन गृह देवियों में कुछ ऐसी विशेषताएं और गुण वर्तमान हैं जो प्राय: सभी में उपलब्ध होते हैं। ये सभी गृहलक्ष्मियां अत्यन्त एकनिष्ठ हैं। क्षमा, दया और उदारता इनकी रग रग में पूर्ण है। त्याग की ये सभी साक्षात मूर्ति हैं। ये सभी अपमान अवमानना, उपेक्षा, वंचना तथा शोषण रूपी विष का पान करके परिवार में स्नेह रूपी अमृत की वर्षा करती हैं। इनमें अपने अस्तित्व को मिटाकर परिवार की रक्षा करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। ये नारियां अपने आगे परोसी हुई थाली पति पुत्रों के आगे रख कर आत्मतुष्टि का अनुभव करती हैं। गृहदेवी होते हुए भी परावलम्बिनी, और गृहलक्ष्मी होते हुए भी ये सभी दूसरों की कृपा की मोहताज हैं। कर्तव्य परायणता की जीवित मूर्ति इन्हीं में दृष्टिगत हो सकती है। वेदना, सहिष्णुता और तपस्या ही जैसे इनके जीवन का वास्तविक अन्तिम लक्ष्य है। प्रेम और स्नेह की वर्षा करके स्वयं अभिशाप से संतप्त भूमि पर निवास करती हैं। यही है भारतीय गृह लक्ष्मी का वह चित्र जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में बार बार अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचन्द ने भारतीय नारी के इस पक्ष को निकट से देखा था और उनके जीवन भर का मनोवैज्ञानिक अध्ययन गोदान की धनिया का रूप ग्रहण कर प्रस्फुटित हुआ। वास्तव में धनियां भारतीय गृहदेवियों की यथार्थ चित्र है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में पत्नी अथवा अर्द्धांगिनी के रूप में जिन नारी पात्रों की अभिव्यक्ति हुई है उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं, गोविन्द और धनियां (गोदान) कुल्सुम, सुखदा एवं मुन्नी (कर्मभूमि) जालपा (गबन), सुधा, निर्मला (निर्मला), अहिल्या (कायाकल्प) विद्या (प्रेमाश्रम), सुमित्रा और पूर्णा (प्रतिज्ञा), और सुमन (सेवासदन)। उन सभी में धनियां को सर्वाधिक मार्मिक विकास और पाठकों की संवेदना प्राप्त हो सकी है।

प्रेम के क्षेत्र में नारी का हृदय एकाधिकार और अद्वितीय स्वत्व का आकांक्षी रहता है। प्राण रहते नारी अपने अधिकार की वस्तु पर दूसरे का स्पर्श भी नहीं देखना चाहती। यह भारतीय नारी की वास्तविक भावना है। सुधा (निर्मला में) डा० सिन्हा की पत्नी है। डा० सिन्हा के हृदय में निर्मला के लिए प्रेम है। पर यह सुधा को सहन नहीं है। कालान्तर में डा० सिन्हा की मृत्यु के पश्चात उसके निम्नलिखित भाव पठनीय हैं:—

"ईश्वर को जो मंजूर था वह हुआ। ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती, दरिद्र प्राणी उस धनी से कहीं सुखी जिसे उसका धन सांप बन कर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल है।"

(निर्मला पृष्ठ १६६)

भारतीय नारी का सबसे बड़ा धर्म पतिव्रत है। पतिव्रत ही उसका धर्म कर्म पूजा पाठ तीर्थ और व्रत है। पति की मृत्यु के अनन्तर पति की मर्यादा की रक्षा करना ही वह अपना कर्तव्य समझती है। बागेश्वरी के निम्न लिखित कथन में हिन्दू विधवा के चरित्र का कितना सौम्य, संयमशील और उदात्त रूप व्यक्त हुआ है:—

"कैसा कष्ट बेटी? जब तक स्वामी जीते रहे, उनकी सेवा करने में सुख मानती थी। तीर्थ व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उनकी सेवा ही में था। अब वह नहीं हैं। उनकी मर्यादा की सेवा कर रही हूं। आज भी उनके कितने ही भक्त मेरी मदद करने को तैयार हैं लेकिन क्यों किसी की मदद लूं। तुम्हारे दादा जी सदैव दूसरों की सेवा करते रहे। इसी में आन। उम्र काट दी तो फिर मैं किस मुँह से सहायता के लिए हाथ फैलाऊं?" (कायाकल्प पृ० ४१७)

परन्तु इन भावनाओं से प्रेमचन्द के सभी विधवा पात्र अनुप्राणित नहीं हैं। कतिपय नारी पात्र वैधव्य के अनन्तर भी अपने हृदय की दुर्बलता, काम वासना, ऐन्द्रिकता, आदि का शमन नहीं कर पाती हैं। इस कोटि की नारियों में प्रेमाश्रम की गायत्री का उल्लेख आवश्यक है। वैधव्य का अभिशाप उसकी काम वासना को मूल से झुलसा न सका। फलत: ज्ञानशंकर से उसका ऐन्द्रिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' उपन्यास की पूर्णा है। परन्तु पूर्णा में गिर कर भी उठने की प्रवृति विद्यमान है। वह कमलाचरण के प्रेम से विचलित तो हो जाती है पर अंततोगत्वा सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ रहती है।

कर्मभूमि की मुन्नी का चरित्र अत्यंत दुरूह और रहस्य पूर्ण है। उपन्यासकार ने नारी के परिवर्तन शील हृदय और मस्तिष्क का मनोवैज्ञानिक एवं स्पष्ट चित्रण मुन्नी के चरित्र के रूप में किया है। मुन्नी एक ग्राम वधू है। वह पतिव्रता है और सतीत्व के महत्व से परिचित है। एक दिन दो गोरों ने बलात्कार करके उसके सतीत्व को नष्ट कर दिया। बस उसी दिन से प्रतिकार की भावना से दग्धा वह चण्डी बन जाती है। अंत में वह दो गोरों की हत्या करके आत्म अपमान का बदला चुकाती है। जिस मुन्नी में चरित्र विषयक इतनी जाग्रति और विवेक है, वही आगे चलकर अमरकांत से ऐन्द्रिक संबंध स्थापित करने के लिए अत्यन्त व्यग्र बनी रहती है।

प्रेमचंद ने गृह देवियों को पति की पूरक और प्रेरक शक्ति के रूप में देखा। दुख, संकट और विपत्ति के क्षणों में भी वे पति को प्रोत्साहित तथा संघर्ष के लिए प्रेरित करती रहती हैं। 'गबन' में 'जालपा' 'रमानाथ' को प्रत्येक बार पतन के गर्त में गिरने से रोकती है। इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' की 'विद्या' का चरित्र

है। 'ज्ञान शंकर' को उचित और सदाचार के मार्ग पर लाने के लिए वह कौन सा प्रयत्न शेष रखती है ? कर्मभूमि की सुखदा उपेक्षिता होते हुए भी पति को अपनी सेवा, सहायता तथा प्रेरणा से वंचित नहीं करती है। इसी प्रकार 'गोदान' की धनिया है। वह घर के उत्तरदायित्व से लेकर पंचायत अदालत में जवाबदेही तक सभी कार्यों में होरी का साथ देती है। जिस समय 'होरी' के भाग्य क्षितिज पर आपत्तियों के बादल छा जाते हैं उस समय 'धनिया' की ही अदम्य शक्ति उसका उद्धार करती है। महाजन, सेठ, साहूकार, पुलिस, जमींदार, बिरादरी, पंचायत सभी बड़े बड़े मगरों की भांति होरी को निगल जाने के लिए मुँह खोले बैठे हैं पर धनिया ढाल बन कर अपने पति की रक्षा करती है। वह घर की सीमा में कुशल पत्नी है, कृषक जीवन में सहचरी है, आपत्ति के क्षणों में कुशलता पूर्वक मंत्रित्व करती है, निराशा के क्षणों शक्ति और प्रेरणा की विद्युत है और प्रत्येक पग पर पति की छाया है। धर्म, समाज, गृहस्थी, अदालत आदि प्रत्येक क्षेत्र में धनिया सच्ची और उपयुक्त जीवन संगिनी बनने का प्रमाण देती है। पत्नी के रूप में प्रेमचंद के नारी पात्रों में जालपा का कम महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। जालपा की प्रेरणा और सतत प्रयत्न से उसका पति रमानाथ पुनः विवेक बुद्धि प्राप्त करता है उसमें चारित्रिक बल के दर्शन होते हैं। रमानाथ के घर से भागने के अनन्तर जालपा के चरित्र में जो विकास और परिवर्तन चित्रित हुआ है वह यथार्थ एवं स्वाभाविक है। जालपा, सुखदा, और सुमित्रा आदि का चरित्र इस बात की ओर संकेत करता है कि भारतीय नारी यदि गिर सकती है तो वह परिवार के कल्याण के हेतु अपना बलिदान भी कर सकती है। गृहस्थ जीवन एवं अर्द्धांगिनी के विषय में प्रेमचंद की धारणा निम्नलिखित पक्तियों में प्रतिध्वनित हुई हैं:—

"हम अपने गार्हस्थ्य जीवन की ओर से कितने बेसुध हैं। उसके लिए किसी तैयारी किसी शिक्षा की जरुरत नहीं समझते। गुड़िया खेलने वाली बालिका, सहेलियों के साथ बिहार करने वाली युवती, गृहणी बनने योग्य समझी जाती है। अल्हड़ बछड़े के कन्धे पर भारी जुआं रख दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि हमारा गार्हस्थ्य जीवन आनन्दमय न हो तो कोई आश्चर्य नहीं।"

(सेवासदन पृष्ठ २२)

नारी संसार की जननी है। नारी का सबसे श्रेष्ठ, पूत और त्यागपूर्ण स्वरूप उसके मातृत्व रूप में ही है। उसके गुणों का चरम प्रकाश, विशेषताओं का प्रखर आभास मातृत्व में ही है। उसका मातृत्व रूप त्याग और ममता की साकार मूर्ति है। 'गोदान' में प्रेमचंद ने मेहता के द्वारा नारी विषयक अपने विचारों को निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकट किया है।

"नारी केवल माता है और इसके उपरांत वह जो कुछ भी है सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना है, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में मैं उसे लय कहूँगा—जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।"

(गोदान पृष्ठ २५७)

प्रेमचंद के उपन्यासों में नारी के बड़े ही उदात्त स्वरूप का चित्रण हुआ है। मातृत्व के गौरव से सम्पन्न प्रेमचंद के नारी पात्रों में रानी जान्हवी देवी (रंग भूमि), जग्गो (गबन), सुषमा एवं सुशीला (वरदान), धनिया (गोदान), विद्या (प्रेमाश्रम), और निर्मला (निर्मला) विशेष उल्लेखनीय हैं।

मातृत्व रूप में रानी जान्हवी का चरित्र बड़ा रोचक है। देश प्रेम, वीरता और सत्य के लिए बलिदान की भावना उसके रग-

रग में प्रवाहमान है। वह अपने पुत्र विनय में भी इन्हीं गुणों को देखने के लिए लालायित रहता है। जिस स्वप्न को वह जीवन भर देखती रही अंत में वही जाकर घटित होता है। विनय देश और सत्य की रक्षार्थ बलिवेदी पर चढ़ जाता है, विनय के उत्सर्ग के प्रकाश में हमें वीर प्रसूता जान्हवी के मातृत्व, मोह एवं ममता का भी उत्सर्ग दृष्टिगत होता है। जान्हवी के हृदय में साधारण नारियों की सी दुर्बलताएँ कहीं पर भी नहीं परिलक्षित होती हैं। पुत्र के बलिदान के अनन्तर उसके ये विचार पठनीय हैं।

"यह तो मेरी चिर अभिलाषा थी......उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी ऐसा ही पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भांति मृत्यु से खेलता जो जीवन देश और जाति के लिये हनन कर देते हैं,......मेरी वह कामना भी पूरी हुई। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ।"

(रंग भूमि पृष्ठ ५३३)

धनिया में एक माता की सच्ची क्षमाशीलता और सहनशीलता के दर्शन होते हैं। गोबर के कुकृत्यों के फलस्वरूप गांव भर के व्यंग, पंचायत के दण्ड, महाजनों के तकाजे, और बिरादरी के बहिष्कार को भी वह अंगीकार कर लेती है। माता को अपने पुत्र के दोष भी नगण्य और उपेक्षणीय प्रतीत होते हैं, इसी लिए वह गोबर के दुष्कर्मों के जो भी फल होते हैं उन्हें ओढ़ लेती है। पर गोबर अपनी माता के प्रति कुपूत निकला। लखनऊ से जब वह कमा कर लौटता है तो बात बात में उन्हें डाटता फटकारता है। कालांतर मे वह अपनी पत्नी झुनिया को लेकर फिर लखनऊ चला जाता है और उसे माता पिता के दुख-दारिद्रय का लेशमात्र भी ध्यान नहीं रह जाता है। फलस्वरूप धनिया के मातृत्व को ठेस पहुँचती है और वह गोबर को धिक्कारने लगती है।

विद्या के रूप में उपन्यासकार ने मातृत्व के कल्याण कारी रूप की अभिव्यक्ति की है। विद्या अपने पुत्र में इमानदारी सच्चाई और चारित्रिक दृढ़ता देखना चाहती है। उसके निम्नलिखित शब्द उसके विशाल उच्च हृदय के द्योतक हैं:—

"मेरा लड़का गरीब ही होगा। अपने पसीने की कमाई खायगा लेकिन जब तक मेरा वश चलेगा मैं उसे इस जायदाद की हवा भी न लगने दूंगी।" (प्रेमाश्रम पृ० ४७८)

'गबन' में 'जग्गो' का मातृत्व "अयं निजः" की सीमा का उल्लंघन कर दूसरे पुत्रों तक पहुंच जाती है। रमानाथ उसका पुत्र नहीं है फिर भी उसके लिए माता का सा प्रेम विद्यमान है। एक सच्ची माता के समान वह रमानाथ को पाप की कमाई करने से रोकती है।

'निर्मला' की 'निर्मला' विमाता होते हुए भी अपने सौतेले पुत्रों के प्रति वास्तविक प्रेम रखती है। इस ममता और प्रेम के लिए उसे अपने पति के व्यंग, अपमान, कलंक और घृणा सहन करनी पड़ती है। पर उसका हृदय दुर्बल नहीं पड़ता है। मातृत्व की महत्ता का उसे पूर्ण ध्यान है और उसी को वह व्यावहारिक रूप में परिणत करती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में वर्ग संघर्ष की दृष्टि से भी पात्रों का अध्ययन आवश्यक है। प्रेमचंद के हृदय एवं मस्तिष्क में सामाजिक चेतना की भावना समाई हुई थी। और यही चेतना उनके उपन्यासों में सर्वत्र व्यक्त हुई है। प्रेमचंद को यह बात असह्य थी कि समाज के संगठन का आधार धन बने। वे जानते थे कि धन किस प्रकार सभी विकारों, दोषों और पापों को उदित करने का साधन है। धन एक बड़ा भारी अभिशाप बनकर हमारे समाज के क्षितिज पर छाया हुआ है। धन ही

व्यक्तित्व के बड़प्पन का मापदण्ड है। समाज का श्रेष्ठ शत्रु वह है जो स्वतः उत्पादन में भाग न लेकर दूसरों के उत्पादन का शोषण करता है इन शोषकों में प्रेमचंद ने महाजन, जमींदार, मिल मालिक, पटवारी, कारिन्दा, और सरकारी अफसर आते हैं और शोषितों में किसान, एवं मजदूर विशेष रूप से व्यक्त हुए हैं। अभिजात वर्ग द्वितीय वर्ग की मेहनत की कमाई पर वैभव की सुनहरी भित्ति खड़ा करता है। एक वर्ग मेहनत की कमाई के आश्रित है और वही उसके जीवन का आधार है और द्वितीय वर्ग प्रथम वर्ग को सब प्रकार से चूसने में व्यस्त है। इस शोषण की सीमा केवल पुरुषों तक ही नहीं सीमित है। प्रेमचंद के नारी पात्रों में भी कतिपय शोषक हैं और अधिकांश शोषित उनके नारी पात्रों में कुछ के पास भूख से अधिक अन्न है और कुछ के पास अन्न से अधिक भूख। कुछ रेशमी वस्त्रों से भी नहीं संतुष्ट और कुछ आधी धोती पहन कर जीवन के दिन बिता रही हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में व्यक्त नारी पात्रों का वर्गीकरण सामाजिक दृष्टि से तीन प्रकार से हो सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग उच्च वर्ग है। इस वर्ग की नारियों में रानी जान्हवी देवी, सोफिया, श्रीमती जानसेवक, इन्दु, रानी देवप्रिया, वसुमती रोहिणी, मनोरमा, गायत्री आदि प्रमुख हैं। इन पात्रों का वर्ग संघर्ष अथवा शोषक-शोषित का सा सीधा संघर्ष नहीं है फिर भी ये समाज की इन प्रवृत्तिओं से अछूती नहीं रह पाती हैं। समाज एवं प्रत्येक वर्ग की पारिवारिक विषमताएं इन्हीं नारी पात्रों के द्वारा पूर्ण रूपेण व्यक्त हो पाई हैं। गोदान के कृषक जीवन का चित्र धनिया के अभाव में क्या कभी पूर्णता प्राप्त कर सकता था? इन उच्च वर्गीय नारी पात्रों के चरित्र कायाकल्प, गोदान, रंगभूमि एवं प्रेमाश्रम में व्यक्त हुए हैं। इसके अनन्तर मध्य वर्गीय नारी का चित्रण है। सुमन, कुसुम,

रतन, सुखदा, नैना, मालती, सुधा, अहिल्या और प्रेमा आदि मध्यवर्गीय नारियाँ हैं। गोदान, निर्मला, सेवासदन बरदान आदि उपन्यासों में इनका चित्रण हुआ है। निम्नवर्गीय नारी के यथार्थ चित्रण के लिए गोदान पठनीय है। समस्त निम्नवर्गीय नारियों का धनिया प्रतिनिधित्व करती है।

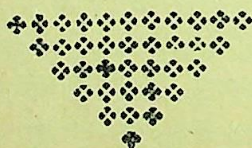
प्रेमचंद की अभिजात्य नारी पात्रों में प्रथम वे हैं जिनकी जीविका का आधार ह्रासमान जमींदारी सभ्यता है। इस वर्ग में जमीदारों एवं मिलमालिकों की पत्नी, पुत्री व पुत्र-वधू आती हैं। इस वर्ग की नारियों में जान्हवी देवी उल्लेखनीय हैं। अपने वर्ग में वह अपवाद हैं। उनके हृदय में देश प्रेम, एवं कर्तव्य भावना जाग्रत रहती है। रंगभूमि की सोफी भी इन्हीं पात्रों में हैं। वह उदार और बृहत्तर मानवता में विश्वास रखती है। वही धार्मिक संकीर्णता के विरुद्ध विद्रोह करती है। वह प्रेम ही को श्रेष्ठ धर्म मानती है। क्षमा, दया, करुणा, आदि से उसका हृदय परिपूर्ण है। उच्च वर्ग के ये नारी पात्र पेट और शरीर ढकने की चिन्ता होने के कारण अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। सोफी धार्मिक स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष करती है आर्थिक निश्चितता के कारण इन नारी पात्रों मे विलासिता और ऐन्द्रिकता भी प्रखर है। कायाकल्प में देवप्रिया और प्रेमाश्रम में गायत्री के चरित्र इसी प्रकार के हैं। देवप्रिया की विलासप्रियता बड़ी वीभत्स है। इन्हीं नारियों के द्वारा प्रेमचन्द्र ने अभिजात्य वर्ग की नारी कलह का भी चित्रण किया है। अपने वर्ग की प्रवृत्ति इन नारी पात्रों में भी उपलब्ध है। इनमें से कतिपय क्रूर और क्रोधी स्वभाव की हैं। प्रेमाश्रम की गायत्री यों तो सामाजिक जीवन में बड़ी मधुर है। पर किसानों के प्रति वह भी कम कठोर नहीं है। बेगार और दस्तूरी देने से इंकार करने वाले किसानों के घर में वह आग लगवा देने के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

प्रेमचंद की मध्यवर्गीय नारियों का प्रतिनिधित्व कुल्सुम करती है। मध्यवर्ग अभिशप्त वर्ग है। न वह उच्च वर्ग के समान लक्ष्मी के वरद पुत्रों से सम्पन्न है न किसानों की भांति नितान्त साधन विहीन। उसकी स्थिति समाज में त्रिशंकु की भाँति है। न वह पृथ्वी पर ही है न आकाश में ही। पति (ताहिर अली) के जेल चले जाने पर कुल्सुम अपने गहने बेच बेच कर बच्चों का पेट पालती है। इसी वर्ग में जालपा जैसी नारियों का भी अभाव नहीं है जिनके आभूषण प्रेम के कारण पारिवारिक शांति नष्ट बनी रहती है। वास्तविक स्थिति पर परदा डालने के लिए कर्ज लेने के लिए भी वह तैयार रहती है। आवश्यकता पड़ने पर भी परिवार के कल्याणार्थ आभूषण बेचने के लिए नहीं देती है। प्रेमचंद की मध्यवर्गीय नारियां स्वावलम्बिनी बनने के लिए उद्यत दृष्टिगत होती हैं और इस दृष्टि से मालती, सुखदा और सकीना के चरित्र उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मध्यवर्ग अनेक दोषों से अभिशप्त है। दहेज (निर्मला, एवं सेवासदन में) अनमेल विवाह (वरदान में) वैधव्य (प्रतिज्ञा में) आदि ने उसके अस्तित्व को खोखला कर डाला है पर सामाजिक, राजनैतिक चेतना इन मध्यवर्गीय नारियों में अत्यधिक है। यह चेतना उनकी सजीवता का द्योतक है। आज मध्यवर्ग के भाग्य और जीवन क्षितिज पर भले ही विपत्तियों के बादल छा गए हों पर वे एक दिन निश्चय ही छटेंगे और उनके स्थान पर एक दिन इन्द्र धनुष की सतरंगी छटा छिटकेगी अवश्य। मध्यवर्ग का भविष्य उज्ज्वल है।

निम्नवर्गीय नारियों के चरित्रों की अभिव्यक्ति गोदान, गबन, कर्मभूमि और प्रेमाश्रम में हुई है। इस वर्ग के प्रति प्रेमचंद की सर्वाधिक सहानुभूति थी। निम्न वर्ग आर्थिक संकटों से ग्रस्त है पेट की ज्वाला उसे खाए जा रही है। झुनिया के जीवन के दो तिहाई दिन क्षुधा और संताप में ही बीत गये। भूखे और नंगे

रह कर भी वह कर्ज और लगान के भार से अवकाश पाने के लिए आकांक्षी है पर वे दोनों अभिशाप भूत की तरह उसका पीछा नहीं छोड़ते हैं। वे निम्नवर्गीय नारियां अपमानित और अभावों से पूर्ण जीवन व्यतीत करती हैं। इस वर्ग की नारियों में ईमानदारी, धर्म भीरुता और ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा है। क्षमा, दया और त्याग की भावना इनके रग-रग में बहती है। उनमें सुखमय सम्मानित जीवन व्ययीत करने की प्रवृत्ति है पर समाज की व्यवस्था उन्हें उठने नहीं देती है।

संक्षेपतः प्रेमचंद ने भारतीय नारी का बड़ा कल्याणकारी रूप अपने उपन्यासों में व्यक्त किया है। भारतीय नारी में मानव सुलभ सभी गुण हैं। उसमें वात्सल्य भाव मूर्त रूप में विद्यमान है। क्षमा की वह देवी है। पर साथ ही उसमें मानव सुलभ दोष भी हैं। प्रेमचंद ने यदि इन दोषों अथवा दुर्बलताओं को उपन्यास के चित्र पट पर न व्यक्त किया होता तो सम्भवतः ये नारी पात्र प्रस्तर मूर्ति के समान प्रतीत होते। ये नारी पात्र मानवीय शाश्वत प्रवृत्तियों से युक्त हैं। भारतीय नारी कर्तव्य और विवेक बुद्धि से सम्पन्न है और यह उसके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है।



प्रेमचन्द और अछूत वर्ग

साहित्यकार समाज का सर्वाधिक भावुक एवं मननशील प्राणी है। समकालीन समाज की प्रवृत्तियों से प्रभावित होना प्रत्येक सहृदय कलाकार का धर्म है। समाज को विनष्ट करने वाली प्रवृत्तियों और तत्वों का वह शंकर के समान पान करके समाज के कल्याणार्थ शिवरूप हो साहित्य रूपी अमृत विन्दुओं की वर्षा करता है। जोवन में पूर्णता के आकांक्षी, व संसार को कर्मठता के गीतों को सुनाने वाले साहित्यकार के लिए युग की समस्त मनोवृतियाँ चाहे वे नगण्य हों या महान् महत्वपूर्ण होती हैं। समाज की प्रत्येक भावना के तार उसके साहित्य में झंकृत रहते हैं। साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महापर्वत को काट कर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेंक कर इस पर्वत की एक चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश गंगा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता। संसार के इस विशाल प्रांगण में समस्याओं का बाहुल्य है फिर बेचारा साहित्यकार किस समस्या को साहित्य में स्थान दे और किसकी अपेक्षा करे? अतएव प्रत्येक कलाकार अपनी अभिरुचि और देशकाल की आवश्कता के अनुसार समस्याओं का संकलन एवं निर्वाचन करके साहित्य में व्यक्त करता है। जनता और साहित्य दोनों अन्योन्याश्रित हैं दोनों एक दूसरे से अनुप्राणित होते हैं। दोनों एक दूसरे माध्यम से विकसित होते हैं। इसीलिए साहित्यकार समाज की गतिविधि का सूक्ष्म पर्यालोचक है वह साहित्य के माध्यम से सामाजिक क्षेत्र में नेता अथवा अगुवा का काम करता है।

प्रेमचन्द के शब्दों में "वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय वृति तथा सौंदर्य वृति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल समझता है।" साहित्यकार के रूप में प्रेमचन्द सर्वप्रथम विदेशी सत्ता के हाथों से स्वदेश को उन्मुक्त कराना चाहते थे और दूसरे वे व्यक्ति और समाज के ज्ञान के द्वारा उन्हें परिष्कृत कर दोषोन्मुक्त बनाने के समर्थक थे। वे सामाजिक जीवन में निर्बाध विकास और कल्याण कारी तत्वों के दर्शन करना चाहते थे। सामाजिक जीवन की उन्नति में दो तत्व बाधक हैं। प्रथम है शोषण और द्वितीय वर्ण व्यवस्था है। शक्तिशाली पूंजीवादी वर्ग समाज की गाढ़ी कमाई और उत्पादन का अपहरण करता रहता है। और फलतः समाज निर्बल बनता जा रहा है। दूसरी ओर समाज के अन्तर्गत व्याप्त वर्ग वर्ण व्यवस्था स्वतः उसे पंगु बनाए डाल रही है। प्रेमचन्द ने सभी दोषों की विवेचना एक सूक्ष्म पर्यालोचक की भाँति की है। वर्ण व्यवस्था जो किसी समय समाज की सुविधा और उत्पादन की सहूलियत के लिए उपयोगी सिद्ध हुई थी वही आज की इस व्यवस्था में अभिशाप का कारण बन गई है। वर्ण व्यवस्था के कारण जहां एक ओर पारस्परिक द्वेष एवं मनोमालिन्य बढ़ता जाता है वहाँ दूसरी ओर आर्थिक आधार भी क्षीण होता जाता है। इसमें सन्देह नहीं है कि प्रत्येक सभ्य समाज के हेतु श्रम विभाग अपेक्षित है पर श्रमविभाग के साथ ही हिन्दू समाज का जैसा अस्वाभाविक श्रम विभाग भी उपयोगी नही है। उद्योग एवं धन्धों की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती है। उनके जीवन

में सदैव महान द्रुत एवं तीव्र परिवर्तन घटित होते हैं। इन परिवर्तनों के साथ समाज को व्यक्ति को व्यवसाय परिवर्तन की सहमति भी प्रदान कर देना चाहिए। इस देश में उद्योग-धन्धों के इतिहास में आशातीत उन्नति इसलिए भी नहीं सम्पन्न हो सकी कि हिंदू धर्म के अन्तर्गत व्यवसाय परिवर्तन की आज्ञा नहीं,भले ही लोग भूखों मर जांय। व्यवसाय निर्वाचन व्यक्ति की अभिरुचि एवं भावना पर निर्भर है। यदि कोई भी व्यवसाय हीन एवं कलंकित नहीं है तो उसके मानने वाले व्यक्तियों को निम्न एवं हेय दृष्टि से क्यों देखा जाय ? वर्ण भेद एवं वंश परम्परा के मध्य निकट सम्बन्ध स्थापित करना एक विशेष व्यवसाय करने वालों के साथ भारी अन्याय है। इतना ही नही वर्ण भेद बृहत्तर मानवता की भावना का विरोधी तत्व है। दो व्यक्ति और हृदयों के बीच सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना में जाति भेद एक बड़ी दीवाल बनकर खड़ी हुई है। वर्णभेद आर्थिक दक्षता उत्पन्न करने में वाधक है। एक वर्ण सदैव से उच्च वर्ग की जूठी रोटी खाता चला आ रहा है और उसके भाग्य में इससे उत्तम स्थिति है भी नहीं। हिन्दू जाति-चेतना से विहीन है। उसमें जाति विषयक जो चेतना उपलब्ध होती है वह संकीर्ण एवं एकांगी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह वर्ण व्यवस्था द्वेष एवं वैमनस्य, उच्च-नीच की भावना का वीजारोपण करता है।

प्रेमचन्द सन् १६३० तक गांधी जी के जीवनदर्शन से बहुत अधिक प्रभावित रहे। राजनीति के क्षेत्र में गांधी के कदम जिस गति से बढ़े प्रेमचन्द के कदम साहित्य के क्षेत्र में बढ़े। गांधी जी ने जिन जिन समस्याओं और आंदोलनों को उठाया वे प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रतिध्वनित हुए यद्यपि दृष्टिकोण प्रेमचन्द का व्यक्तिगत और मौलिक था। साहित्यकार का युग पुरुष से प्रभावित होना बड़ा स्वभाविक होता है। गांधी जी ने राजनैतिक दृष्टि से अन्त्यजों

को हिन्दू धर्म के अन्तर्गत सम्मानित स्थान प्रदान करना आवश्यक समझा। अछूतोद्धार उनके लिए एक राजनैतिक आवश्यकता अधिक थी सामाजिक कम। गांधी का अन्त्यज विषयक दृष्टिकोण प्राचीन भारतीय परम्परा का पोषक मात्र था। उसमें आमूल परिवर्तन के हेतु अवकाश नहीं था। प्रेमचंद ने भी अछूतोद्धार की समस्या को देश और समाज के लिए आवश्यक समझा पर गांधी से सर्वथा भिन्न कारणों से। प्रेमचंद जनवाद के अधिक निकट थे अतः उन्हों ने समाज से वहिष्कृत इस वर्ग को एक मानवतावादी की दृष्टि से देखा। प्रेमचंद ने गांधी की भांति किसी राजनैतिक चाल अथवा आवश्यकता के लिए हरिजनों के प्रति सहानुभूति नहीं प्रकट की वरन् समाजिक दृष्टिकोण आर्थिक वैषम्य एवं शोषण की प्राचीनतम परम्परा को अंत करने के लिए इस समस्या की विवेचना एवं चित्रण किया। प्रेमचंद के लिए जन जीवन का विकास और उत्थान अधिक महत्व रखता था और इसीलिए उन्होंने इस उपेक्षित वर्ग का चित्रण अत्यधिक समवेदना के साथ किया। एक जनवादी के लिए जन-जन के जीवन में कोई अन्तर नहीं चाहे वह उच्च हो या नीच, धनी हो या निर्धन और यही विचार धारा प्रेमचन्द के उपन्यासों में व्यक्त अछूत विषयक धारणा का केन्द्र है।

प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन दर्शन होता है। गांधी जी की वर्ण-व्यवस्था में बड़ी आस्था थी। वे वर्णव्यवस्था को हिन्दू धर्म का एक आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य अंग मानते थे। इस व्यवस्था को समाप्त कर देने का तात्पर्य उसी प्रकार है जैसे मानव के शरीर से हाथ, पैर आदि में से कोई अंग विच्छिन्न कर लेना है। वर्ण-व्यवस्था विषयक गांधी जी की निम्नलिखित विचारधारा पठनीय है:—

"कुछ लोग कहते हैं कि जात पांत कायम रखने से हिन्दुस्तान का सत्यानाश होगा क्योंकि जात-पांत के भेद ने ही हिन्दुस्तान

को गुलामी में डुबोया है। मेरी नजर में हमारी आज की गिरी हुई हालत की जड़ में हमारी जात-पाँत का भेद नहीं है। हमारे गले में गुलामी इस लिए आई कि हमने अपने लालच के बस होकर राष्ट्रीय गुण बढ़ाने की तरफ लापरवाही रखी। मैं तो उलटे यह मानता हूं कि वर्ण व्यवस्था ने एक हद तक हिन्दू-समाज को टुकड़े-टुकड़े होने से बचाया है। लेकिन दूसरी संस्थाओं के साथ-साथ ही इस संस्था में भी अति या ज्यादती ने घुस कर भारी नुकसान किया है। वर्ण-व्यवस्था में बुनियादी तौर पर सोची गई समाज की चौमुखी रचना या बनावट ही मुझे तो असली कुदरती और जरूरी चीज़ दीखती है। बेशुमार जातियों और उपजातियों से कभी कभी कुछ आसानी हुई होगी लेकिन इसमें शक नही कि ज्यादातर तो अड़चन ही पैदा होती हैं। ऐसी उपजातियाँ जितनी जल्दी एक हो जायँ उतना ही उसमें समाज का भला होगा।" (वर्ण व्यवस्था-गांधी। पृष्ठ ३)

स्पष्ट है कि उपर्युक्त उदाहरण में निम्न वर्णों के अन्तरगत जीवित जातियों और उपजातियों का तो विरोध किया है परन्तु वर्ण-भेद की आवश्यकता पर बराबर जोर दिया है। गांधी जी जन-युग अथवा लोक युग या वर्ण-हीन समाज के लिए भी जाति पांति आवश्यक समझते हैं। उनके विचार से यद्यपि दुनियां में क्या भारतवर्ष में भी लोक-युग की स्थापना होने जा रही है तथापि वर्ण-व्यवस्था भंग इस युग की स्थापना में सहायक नहीं हो सकता है:—

"हिन्दुस्तान में और सारी दुनियां में आज देखते देखते जो लोक-युग फैल रहा है उसके असर से हिन्दू जातियों में भी ऊँच-नीच के ख्याल अपने आप मिट जायेंगे। सिर्फ बाहरी अंगों को तोड़ देने से लोक-युग नहीं फैलता। यह कोई गणित का सवाल

नहीं कि सरलता से हिसाब बैठ जाय। इसकी गुत्थियां सुलझाने के लिए दिलों में तब्दीली होनी चाहिए, समाज की वृत्ति या तबियत का झुकाव बदलना चाहिए।......लोक सत्ता या जमहूरियत और राष्ट्रीयता या कौमियत की भावना तो आपस के भाई-चारे पर ही पनपती है। और आज एक ईसाई या मुसलमान को सगा माँ-जाया भाई ही मानने में मुझे तो किसी तरह की अड़चन मालूम नहीं होती।"—(वर्ण-व्यवस्था पृ० ४)

आश्चर्य है कि गांधी जी हिन्दू, ईसाई और मुसलमानों के मध्यस्थ भेदभाव को समाप्त करने के समर्थक हैं पर हिन्दू जाति के अन्तर्गत वर्तमान इस दोष का अन्त करने के विरोधी हैं। परन्तु प्रेमचन्द का मत इस दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। प्रेमचन्द ने अछूत वर्ग को हिन्दू-धर्म के नाम पर एक महान कलंक माना है। गांधी जी का मत था कि वर्ण व्यवस्था उत्पादन के लिए आवश्यक है। जो पेशा जिस जाति विशेष के लिए निर्धारित है उस जाति या वर्ण के व्यक्ति उसको भली भांति सम्पन्न कर सकते हैं। परन्तु प्रेमचन्द के पात्र इसके विरुद्ध आचरण प्रदर्शित करते हैं। पेशा या व्यवसाय किसी जाति की बपौती नहीं है। जो मनुष्य तन मन से किसी कार्य में जुटता है वह उसे अधिक कुशलता एवं उपयुक्त रीति से पूरा कर लेता है। गांधी जी जाति भेद को जन्म के अनुसार महत्वपूर्ण मानते हैं प्रेमचन्द कर्म के अनुसार। गांधी ने वर्ण व्यवस्था को हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए एक कवच माना है पर प्रेमचन्द ने इसे शोषण की सहायक शक्ति के रूप में देखा और पाया।

अछूतोद्धार एक सामाजिक समस्या है, पर यह समस्या राजनैतिक कारणों से विकसित हुई है। प्रेमचन्द की दृष्टि में इस समस्या का महत्व राजनैतिक दृष्टि से कम था पर हाँ सामाजिक

आर्थिक दृष्टि से बहुत अधिक था, वे जानते थे कि समाज का यह एक बहुत बड़ा अंग है और इनकी उपेक्षा करते हुए हम देश और समाज की स्थिति को कभी भी सुधारने में समर्थ नहीं हो पायेंगे। मुँह से देश के उत्थान और विकास के लिए लम्बी लम्बी योजनाएं बनाने वाले पर समाज के एक अंग विशेष को अस्पर्श्य, अन्त्यज और हेय समझने वाले नेताओं पर उन्हें श्रद्धा नहीं थी। उनकी आस्था ऐसे नेताओं पर नहीं टिकती थी जो कथनी और करनी में एकात्मता उपस्थित करना नहीं जानते थे। समाज के एक बहुत बड़े वर्ग की उपेक्षा उत्पादन में बाधक और आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद समझते थे। इसीलिए जनता के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का स्तर उठाने के लिए प्रेमचन्द ने इस अछूत समस्या को स्थान दिया। सामान्यतया प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में अछूतों की आर्थिक, सामाजिक-अधिकार, शिक्षा और विवाहादि समस्याओं को व्यक्त किया है।

समाज में अछूतों का स्थान बड़ा हेय और निम्न रहा है। वे समाज में अस्पृश्य के रूप में माने गये हैं। उन्हें समाज से वहिष्कृत रखा गया है। जाति वहिष्कार एक कठोर दण्ड रहा है। बहिष्कृत और वहिष्कारक में विजित और विजयी का सा मनोविज्ञान कार्य करता है। वर्णभेद ने हिन्दुओं में सार्वजनिक भाव को समाप्त कर दिया है। वर्णभेद ने ही लोकमत को असम्भव बना दिया है। समाज में क्षमा, दया और प्रेम आदि गुणों का विशेष महत्व है। हिन्दू समाज इस दृष्टि से अत्यधिक सीमित और संकीर्ण है। समाज के जीवन का मुख्याधार है स्वाधीनता, समता और बन्धुत्व। स्पष्ट है कि अछूत वर्ग को इन में से एक बात भी कभी नहीं नसीब हो सकी। रूढ़ियों के दास हिन्दू समाज में अछूतों के प्रति औदार्य की भावना सदैव से विलुप्त रही है। इतना ही नहीं उच्च वर्गों की

स्वार्थपरता ने इस वर्ग के उपार्जन और उत्पादन के साधनों को इतना सीमित बना दिया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हें उच्च वर्ग के सहारे ही ठहरना पड़ता है। दूसरे शब्दों में उच्च वर्ग ने इस अछूत वर्ग को अपंग और सर्वदा मोहताज बना दिया है। वहिष्कृत होने के कारण इन अछूतों का अपना एक पृथक समाज है जिसका गरीबी, हीनता, अशिक्षा और अन्धानुकरण से निकट सम्बन्ध है। सामाजिक जीवन में, प्रेमचन्द के अछूत पात्रों में मानवीय गुणों एवं दुर्बलताओं का भला समन्वय मिलता है। यदि उनमें स्वार्थ परता, आलस्य और व्यसन है तो सचाई, ईमानदारी और क्षमा शीलता भी है। ये नागरिक और सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक तत्व हैं। समाज में ये अछूत जहां एक ओर उच्च वर्गों द्वारा बहिष्कृत अपमानित रहा है, वहां दूसरी ओर काम वासना की तुष्टि का साधन भी बनता रहा है। उच्च वर्ग का सम्पन्न व्यक्ति अपने धन के बल इस वर्ग के प्रति जिन जिन ज्यादतिओं को जीवन में बरतता है उनमें इसका उल्लेख भी आवश्यक है। चाहे शहर हो, नगर हो, या देहात हो, सम्पन्न व्यक्तियों ने इस निम्न वर्ग की नारियों के सतीत्व को नष्ट करके चैन ली है। लम्बे लम्बे त्रिपुंड लगाने वाले चूल्हे-चौके के दास, धर्म के वाह्याडम्बरों के समर्थक व्यक्ति, समाज में निम्न वर्ग को धोबी, चमार और मेहतर कह कर पुकारेंगे पर छिपकर इसी वर्ग की नारियों के तलवे सहलायेंगे। समाज में खुल कर इनसे प्रेम करने की आत्मिक शक्ति नहीं है। लुक छिप कर चाहे जितने कुकर्म कर लिये जांय पर प्रत्यक्ष करने में साहस कपूर की तरह उड़ जाता है। अछूत नारी भी अपनी विवशताओं के कारण अभिजात वर्ग की वासना की शिकार बन जाती है। जब उनमें शिक्षा नहीं है, स्वावलम्बन नहीं है, संयम का ज्ञान नहीं

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैसा नहीं है, पेट की भूख शांत करने के लिए घर में अन्न नहीं है तभी बेचारी अछूत नारियां उच्च वर्गों का मुँह ताकती हैं। गोदान की सिलिया ग्रामीण अछूत बालिका है। उसमें सौंदर्य है, लावण्य है, आकर्षण है। दातादीन के पुत्र मातादीन का उससे प्रेम और सम्बन्ध है। "दातादीन अपनी जवानी में स्वयं बड़े रसिया रह चुके थे; लेकिन अपने नेम-धर्म से कभी नहीं चूके। मातादीन भी सुयोग्य पुत्र की भांति उन्हीं के पद चिन्हों पर चल रहा था। धर्म का मूल तत्व है, पूजा-पाठ कथा-व्रत और चौका-चूल्हा। जब पिता-पुत्र दोनों ही मूल तत्व को पकड़े हुए हैं तो किसकी मजाल है कि उन्हें पथ भ्रष्ट कह सकें।" सिलिया इन्हीं महाजन के यहां मजदूरी करने आती है। यहीं मातादीन और सिलिया का गांव के एकांत प्रदेश, खेतों में ऐन्द्रिक सम्बन्ध हो जाता है। गांव में सिलिया और मातादीन के प्रेम की बात किससे गुप्त है? पर फिर भी ब्राह्मण ब्राह्मण ही है और सिलिया निरी चमारिन। समाज में मातादीन और उनके पिता दातादीन समान रूप से पूज्य हैं कथा-व्रत, दान-दक्षिणा और श्राद्धादि में सर्व प्रथम उन्हीं का स्वागत और सत्कार होता है। परन्तु सिलिया का ब्राह्मण से ऐंद्रिक सम्बन्ध होने पर भी वह अछूत की अछूत ही रही। समाज की कितनी बड़ी विडम्बना है कि ब्राह्मण चमारिन के साथ सम्भोग करके भी ब्राह्मणत्व की महत्ता को सुरक्षित रख सके पर उसके सम्पर्क और स्पर्श से अछूत कुलीन नहीं बन पाता। इतना ही नहीं दातादीन उन दोनों के सम्बन्ध का समर्थन भी करते हैं। झींगुर सिंह के इस सम्बन्ध के विषय में व्यंग पर दातादीन का निम्नलिखित कथन अभिजात्य वर्गीय भावना और मनोविज्ञान का द्योतक है:—

"पीछे पीछे आदमी जो चाहे बके, हमारे मुँह पर कोई कुछ कहे, तो उसकी मूँछे उखाड़ लूं। कोई हमारी तरह नेमी बन तो ले। कितनों को जानता हूँ जो कभी संध्या वन्दना नहीं करते, न उन्हें धरम से मतलब, न करम से, न कथा से मतलब, न पुरान से। वह भी अपने को ब्राह्मण कहते हैं। हमारे ऊपर क्या हँसेगा कोई जिसने अपने जीवन में एक एकादशी भी नागा नहीं की, कभी बिना स्नान पूजन किये मुंह में पानी नहीं डाला। नेम का निभाना कठिन है। काई बतादे कि हमने कभी बजार की कोई चीज खाई हो या किसी दूसरे के हाथ का पानी पिया हो, तो उसकी टांग की राह निकल जाऊं। सिलिया हमारी चौखट नहीं लांघने पाती चौखट, बरतन-भांडे छूना तो दूसरी बात है। मैं नहीं कहता कि मतई यह बहुत अच्छा काम कर रहा है, लेकिन जब एक बार एक बात हो गई, तो यह पाजी का काम है कि औरत को छोड़ दे। मैं तो खुल्लमखुल्ला कहता हूँ इसमें छिपाने की कोई बात नहीं। स्त्री जाति पवित्र है।"

यह है समाज में उच्च जातियों का धर्म विषयक दृष्टिकोण। सिलिया मातादीन के घर में प्रवेश नहीं कर सकती है, पर वह मातादीन के हृदय में प्रविष्ट हो चुकी है, वह बरतन-भांडे नहीं छू सकती है पर मातादीन के शरीर से उसका निकट स्पर्श सिद्ध है। फिर भी उच्च वर्ण की समाज में प्रतिष्ठा है और वह पूज्य है। इसके प्रतिकूल सिलिया समाज में अपनी दुश्चरित्रता के कारण बदनाम है।

सिलिया व्याहता न होकर भी संस्कार, व्यवहार और मनोभावो में मातादीन की व्याहता ही थी। उसका न कोई अपर आलम्बन था न दूसरा आश्रय। फिर भी सिलिया के लिए मातादीन के हृदय में कोई स्थान नहीं था। उपन्यासकार के शब्दों में ही

"सिलिया का तन और मन दोनों लेकर भी बदले में कुछ न देना चाहता था। सिलिया अब उसकी निगाह में केवल काम करने की मशीन थी, और कुछ नहीं। उसकी ममता को वह बड़े कौशल से नचाता रहता था।"

मातादीन प्रेम के माध्यम से दो प्रकार के स्वार्थों की साधना करता है? प्रथम वह सिलिया को काम पिपासा शांत करने के लिए एक साधन बनाता है और दूसरे वह इसी प्रेम के आधार पर सिलिया के हृदय में ममत्व भावना का उद्रेक करके उससे खेतों पर जी-जान तोड़ कर मजदूरी करवाता है। अंत में मातादीन के हृदय से जवान के माध्यम से ये भाव छलक ही तो पड़ते हैं। एक दिन सिलिया ने खलिहान से सेर भर अनाज सहुआइन को दे दिया। मातादीन को भला यह कब सहन हो सकता था। वह डांटता हुआ बोला "तूने अनाज क्यों दे दिया? किससे पूछ कर दिया तू कौन होती है मेरा अनाज देने वाली?" सिलिया ने आहत गर्व से पूछा "तुम्हारी चीज में मेरा कुछ अख्तियार नहीं है।"

मातादीन आंखें निकाल कर बोला "नहीं, तुझे कोई अख्तियार नहीं है। काम करती है, खाती है। जो तू चाहे कि खा भी और लुटा भी तो कहीं और जाकर काम कर। मजूरों की कमी नहीं सेंत में काम नहीं लेते, खाना कपड़ा देते हैं।"

मुट्ठी भर अनाज के लिए सिलिया का यह अपमान वास्तव में सिलिया का ही अपमान नहीं है। यह तो उच्च वर्ग का निम्न वर्ग, उच्च वर्ण का निम्न वर्ण के साथ सदा का व्यवहार रहा है। समाज में इस प्रकार का अपमान अछूत नारी के लिए नया नहीं है। समाज में व्यवसायिक दृष्टि से प्रेम करने वाले न मातादीन का ही अभाव है और न सरल

स्वभाव वाली सिलिया जैसी अछूत कन्याओं का ही अभाव है, जो प्रेमातुर होकर प्रेमी पर सर्वस्व न्योछावर कर देती हैं और अंत में कटुतम अनुभव करने पड़ते हैं। दो वर्ष पूर्व की बात है जब यही मातादीन उसके तलवे सहलाता था, जब उसने जनेऊ हाथ में लेकर कहा था:—"सिलिया जब तक दम में दम है, तुझे ब्याहता की तरह रखूँगा; जब वह प्रेमातुर होकर हार में और बाग में और नदी के तट पर उसके पीछे-पीछे पागलों की भाँति फिरा करता था।" पर जहाँ धर्म कुछ नहीं केवल ढोंग है, वहाँ जनेऊ का क्या महत्व महात्म्य।

विवशता, निर्धनता और विषम परिस्थितियां मनुष्य से क्या नहीं करा लेतीं। बलवान से बलवान व्यक्ति इन सब के आगे लाचार हो जाता है। प्राण रहते मनुष्य अपने को निष्प्राण समझने लगता है। शक्ति जैसे वाष्प के समान विलीन हो जाती है। बड़े बड़े मनसूबे तिरोहित हो जाते हैं। चिर पददलित अछूत वर्ग अपनी निर्धनता और विवशताओं के कारण भले ही अपमान सहन करता चला आ रहा हो पर उसका स्वाभिमान सर्वथा तिरोभूत नहीं हो गया, उसमें आत्मसम्मान की भावना सर्वथा विनष्ट नहीं हो गई है। जैसे राख से ढकी हुई आग का अंगार वायु के झोंके से फिर प्रज्ज्वलित हो उठता है ठीक उसी प्रकार सिलिया के इस अपमान और मातादीन की इस व्यवहार बुद्धि को देखकर उसका पिता, साठ साल का बूढ़ा, काला, दुबला, सूखी मिर्च की तरह पिचका और उतना ही तीक्ष्ण, हरखू जल उठा। उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना जाज्वल्यमान हो उठी। हरखू अन्य चमारों के साथ खलिहान में बदला लेने जा पहुँचा। दातादीन और झिंगुर सिंह दौड़ पड़े पूछा "क्या

है चौधरी किस बात का झगड़ा है ?" हरखू ने कहा "झगड़ा कुछ नहीं है ठाकुर, हम आज या तो मातादीन को चमार बना के छोड़ेंगे, या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे। सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर तो जायगी ही इस पर हमें कुछ नहीं कहना है; मगर उसे जो कोई भी रक्खे, हमारा होकर रहे। तुम हमें बाम्हन नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें बाम्हन बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने के लिए तैयार है। जब यह समरथ नहीं है, तो फिर तुम भी चमार बनो, हमारे साथ खाओ पियो, हमारे साथ उठो बैठो। हमारी इज्जत लेते हो, तो अपना धरम दो।" साथ में सिलिया की मां भी थी। उसने दातादीन से कहा कि..."तुम्हारी लड़की किसी चमार के साथ निकल गई होती और तुम इस तरह की बातें करते, तो देखती। हम चमार हैं, इस लिए हमारी कोई इज्जत ही नहीं। हम सिलिया को अकेली न ले जायेंगे उसके साथ मातादीन को भी ले जायगे, जिसने उसकी इज्जत बिगाड़ी है। तुम बड़े नेमी धर्मी, उसके साथ साथ सोओगे लेकिन उसके हाथ का पानी न पियोगे।"

इन दोनों अछूत प्राणियों के एक एक शब्द में इस सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था की अति तीव्र आलोचना निहित है। सिलिया की मां के शब्दों "तुम बड़े..........पानी न पियोगे" में कितना बड़ा व्यंग है। धर्म के उन ठेकेदारों पर जो पवित्रता उच्चता और महानता का माप दण्ड स्वार्थ और आवश्यकता नुसार बनाया-मिटाया करते हैं।

अन्ततोगत्वा सब चमारों ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए"........लपक कर मातादीन के हाथ पकड़ लिए उसका जनेऊ तोड़ डाला और इसके पहिले कि दातादीन और

झिंगुरसिंह अपनी-अपनी लाठी संभाल सकें, दो चमारों ने मातादीन के मुंह में एक बड़ी सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया। मातादीन ने दांत जकड़ लिये फिर भी वह घिनौनी वस्तु उसके ओंठों में तो लग ही गई। उन्हें मतली हुई और मुंह आप-से आप खुल गया और हड्डी कण्ठ तक जा पहुँची। इतने में खलिहान के सारे आदमी जमा हो गये। पर आश्चर्य यह है कि कोई इन धर्म के लुटेरों से मुजाहिम न हुआ।

मातादीन का चमारिन से सम्बन्ध था और अंत में उन्हें चमार बना देने का यह प्रयत्न भी सम्पन्न हो गया। इस सबके होते हुए भी मातादीन चमार न हुआ। काशी जाकर पाप और कलंक की कालिमा को धो देने वाले ब्राह्मणों को ३००) देकर फिर वह ब्राह्मण बन गया। प्रायश्चित का हिन्दू समाज ने कितना सरल और सस्ता नुस्खा बना रखा है। पर यह नुस्खा सबके लिए सुलभ नहीं है। मातादीन जैसे उच्च वर्ण ही इसके द्वारा पाप-पंक में लिप्त रहते हुए भी इस नुस्खे के द्वारा उच्च और पूज्य तो बने रह सकते हैं, पर सिलिया की सदृश्य सहस्रों अन्य नारियां जो सर्वथा ब्राह्मणों के सम्पर्क में हैं, समाज की दृष्टि से ब्राह्मण नहीं सिद्ध हो सकती हैं।

प्रायश्चित के अनन्तर फिर मातादीन और सिलिया एक हो जाते हैं। मातादीन सिलिया को अपने घर ले गया। सिलिया ने पूछा "तो बाम्हन, कैसे रहोगे?"

मातादीन ने कहा "मैं बाम्हन नहीं रहना चाहता हूं। जो अपना धरम पाले वही बाम्हन है, जो धरम से मुंह मोड़े वही चमार है।"

इन पंक्तियों में समाज की वर्ण व्यवस्था पर व्यंग व्यक्त हुआ है धर्म और वर्ण किसी जाति की अथवा व्यक्ति की बपौती

नहीं है। जो जैसे कर्म करेगा, वही उसका धर्म होगा। इन उपर्युक्त पंक्तियों से प्रेमचन्द की वर्ण व्यवस्था विषयक विचार धारा प्रकट हो जाती है।

वर्ण व्यवस्था के आधार पर उच्च वर्ण अन्त्यज वर्ग का शोषण करता आ रहा है। उच्च वर्ण अपने लाभ के लिए अछूतों को सदा अपदस्थ और हीन मानता रहा है। गोदान में यह सत्य मातादीन के चरित्र द्वारा व्यक्त हुआ है।

प्रेमचन्द ने अछूतों के मंदिर प्रवेश समस्या पर 'कर्मभूमि' उपन्यास में अपने विचारों को प्रकट किया है। गांधी जी ने अछूतों की मंदिर प्रवेश समस्या को भी राजनैतिक कारणों से ही महत्व प्रदान किया था। चिरकाल से समाज वहिष्कृत होने के कारण अछूत वर्ग जैसे हमारे जीवन से नितांत दूर चला गया है। प्रतीत होता है जैसे आकृति के अतिरिक्त हमारे और उसके जीवन और समाज में कोई भी एक सी बात नहीं है। जान पड़ता है वह मानव होकर भी मानव से दूर है। उसमें सभ्यता, संस्कार और बौद्धिक पक्ष नितांत विलुप्त हो गया है। सवर्ण समाज की संकीर्णता का उल्लेख कहाँ तक सम्भव है। कुछ शताब्दियों पूर्व यही अछूत हमारे आत्मीय थे और औदार्य वश इन्होंने एक विशेष व्यवसाय एक विशेष उद्यम को स्वीकार कर लिया। पर आज—आज जैसे वही अन्त्यज वर्ग मनुष्य ही न हो। ईश्वर सार्वभौम है पर जैसे हम उसे उस महान शक्ति से भी वंचित रखना चाहते हैं। मनुष्य की विचित्र बुद्धि ने ईश्वर को मंदिर, मस्जिद और चर्च में बाँध रखने का प्रयत्न किया है। ये अन्त्यज उनसे भी वंचित है। हृदय में श्रद्धा और भक्ति होते हुए भी ये शूद्र मंदिर में इसलिए नहीं प्रवेश कर सकते कि भगवान पतित पावन और दीनदयाल होते हुए भी

उनकी पहुँच की सीमा से परे हैं और केवल सवर्णों की निधि हैं। शूद्र यदि अपनी आर्थिक विषमताओं पर विजय भी प्राप्त कर ले और स्वच्छ तन मन और वस्त्र से मंदिर में प्रवेश की आकांक्षा रखे तो भी मंदिर उसके लिए वर्जित है। 'कर्मभूमि' के तृतीय खण्ड में इसी अछूतोद्धार समस्या की विवेचना हुई है। इस समस्या का हल बहुत दूर तक गांधीवाद से प्रभावित है पर अन्त में प्रस्तुत समस्या का हल जिसे लेखक ने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है वह सर्वथा मौलिक है।

एक ठाकुरद्वारा में कई दिनों से कथा वाचक पं० मधुसूदन जी कथा कह रहे हैं। नगर की अधिकांश जनता कथा श्रवण के हेतु ठाकुरद्वारे में सिमट आती है, कुछ कथा कहने की रोचक शैली से प्रभावित होकर और कुछ भक्ति के कारण। एक दिन मधुसूदन जी कथा कह रहे थे कि "सहसा पिछली सफों में कुछ हलचल मची। ब्रह्मचारी जी कई आदमियों को हाथ पकड़ पकड़ कर उठा रहे थे और जोर जोर से गालियां दे रहे थे। हंगामा हो गया। लोग इधर-उधर से उठकर वहां जमा हो गए। कथा बन्द हो गई।" लोगों के कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि जहाँ पर भगवान के सवर्ण भक्त अपने जूते उतार आए थे वहाँ कतिपय भंगी, चमार और अन्य अछूत बैठे कथा सुन रहे हैं। लाला समरकांत ने जूतों से मारकर निकाल देने की आज्ञा दी। एक बूढ़े ने विनम्र स्वर में कहा "हम तो यहां दरवाजे पर बैठे थे सेठ जी जहाँ जूते रखे हैं। हम क्या ऐसे नादान हैं कि आप लोगों के बीच में जाकर बैठ जाते!" पर यह निवेदन क्रोध के आवेग में बह गया किसी ने न सुना। ब्रह्मचारी ने उनका सत्कार जूतों से करना प्रारम्भ कर दिया। यह हिंदू तथा सवर्ण समाज की विशेषता है कि वे जूतों को पवित्र समझते हैं पर जूतों के पास

बैठ कर भगवान का कीतन करने वालों को अपवित्र समझते हैं। जूतों का प्रहार हो ही रहा था कि मिठुआ सफाई देता हुआ विनय भरे स्वर में बोला "रोज आते हैं महाराज, यही दरवज्जे पर बैठ कर भगवान की कथा सुनते हैं।" यह सुनते ही "ब्रह्मचारी जी ने माथा पीट लिया। ये दुष्ट रोज यहां आते थे। रोज सबको छूते थे। इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे। इससे बढ़कर अनर्थ और क्या हो सकता है। धर्म पर इससे बड़ा आघात और क्या हो सकता है? धर्मात्माओं के क्रोध का वारापार न रहा। कई आदमी जूते ले ले कर उन गरीबों पर पिल पड़े। भगवान के मन्दिर में, भगवान के भक्तों के हाथों भगवान के भक्तों पर पादुका प्रहार होने लगा।" उस स्थल पर डा० शांतिकुमार भी थे। बड़े प्रयत्न से किसी उपाय से शांति स्थापित हुई। जूते चलने की गति ज्यों ही मंथर पड़ी डाक्टर शांतिकुमार ने फिर ललकार कर कहा—"आप लोगों ने हाथ क्यों बन्द कर लिये? लगाइये कस कस कर। और जूतों से क्या होता है, बन्दूकें मंगाइए और धर्म द्रोहियों का अंत कर डालिए। सरकार कुछ नहीं कर सकती है। और तुम धर्म द्रोहियों, तुम सबके सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको खाओ। तुम्हें इतनी भी खबर नहीं, कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं! तुम्हारी इतनी मजाल कि इन भगवान के मन्दिर में कदम रखो! तुम्हारे भगवान कहीं किसी झोपड़े में, या पेड़ तले होंगे। यह भगवान रत्नों के आभूषण पहनते हैं, मोहन-भोग, मलाई खाते हैं। चीथड़े पहनने वालों और चबेना खाने वालों की सूरत वह नहीं देखना चाहते।" उत्तेजित स्वर में डा० शांति कुमार ने ब्रह्मचारी जी से कहा—"अंधे-भक्तों की आंखों में धूल झोंक कर यह हलवे बहुत दिन खाने को न मिलेंगे महराज,

समझ गए ! अब वह समय आ रहा है, जब भगवान भी पानी से स्नान करेंगे, दूध से नहीं।" कथा का क्रम विच्छिन्न हो गया और दूसरे दिन पुनः कथा नियत समय पर प्रारम्भ हुई। पर संख्या बहुत कम थी। मधुसूदन जी ने बहुत प्रयत्न किया कि रंग जमा दें पर असफलता ही हाथ लगी। लोग जम्हाइयाँ ले रहे थे, पिछली सफों में तो लोग सो भी रहे थे। उधर नौजवान सभा के सामने खुले मैदान पर डा० शांतिकुमार की कथा हो रही थी आगन्तुकों का स्वागत सलीम, ब्रजनाथ और आत्मानन्द कर रहे थे। थोड़ी ही देर में दरियां छोटी पड़ने लगीं और श्रोताओं की भीड़ बढ़ती जा रही थी। डा० शांतिकुमार ने आगन्तुक जनता को उत्तेजित करके मन्दिर प्रवेश के लिए प्रेरित किया। "कई सौ स्त्री पुरुष शांतिकुमार के साथ मन्दिर की ओर चले। नैना का हृदय धड़कने लगा, पर उसने अपने मन को धिक्कारा और जत्थे के पीछे पीछे चलने लगी। .....ज्यों-ज्यों जत्था आगे बढ़ता था और लोग आ-आ कर मिलते जाते थे; पर ज्यों-ज्यों मन्दिर समीप आता था, लोगों की हिम्मत कम होती जाती थी। जिस अधिकार से ये सदैव वंचित रहे, उसके लिए उनके मन में कोई तीव्र इच्छा न थी। वह विश्वास जो न्याय ज्ञान से पैदा होता है, वहाँ न था। समूह की धौंस जमाकर विजय पाने की आशा ही उन्हें आगे बढ़ा रही थी।" अंत में भीड़ मन्दिर के सामने जा पहुँची। वाग्-युद्ध के अनन्तर जत्थे पर डन्डों की वर्षा हुई। शांतिकुमार के चोट लगी। वे वहीं गिर पड़े। जनता में जोश की एक लहर दौड़ गई। चमारों के संगठन से मन्दिर के द्वार पर धरना प्रारम्भ हुआ। पुलिस की सहायता ली गई पर चमार फिर भी न हटे। आखिर गोली चली। कई की जान गई। अन्त में सुखदा ने चमारों का नेतृत्व किया। समरकांत में अपनी बहू पर गोली

चलवा देने का साहस और शक्ति न थी। इस संघर्ष के बाद अछूतों की विजय हुई। लाशों की दाह क्रिया के अनन्तर दूसरे दिन फिर मंदिर में उत्सव हुआ। ब्रह्मचारी आज फिर विराजमान हो गए थे, और जितनी दक्षिणा उन्हें आज मिली, उतनी शायद उम्र भर में न मिली होगी। इससे उनके मन का विद्रोह बहुत कुछ शांत हो गया किंतु ऊँची जाति वाले सज्जन अब भी मंदिर में देह बचाकर आते और नाक सिकोड़े हुए कतरा कर निकल जाते थे।

मंदिर प्रवेश के इस लम्बे वर्णन का अन्त होता है–ब्रह्मचारी की दक्षिणा से। प्रेमचंद की दृष्टि पूरे आन्दोलन की मोटी भित्ति को बेधती हुई उसके सार-तत्व में जा पहुँची। इतना बड़ा आंदोलन संघर्ष, लाठी गोली प्रहार के अनन्तर यदि अछूतों को मन्दिर में प्रवेश की अनुमति उपलब्ध भी हुई तो व्यर्थ थी। उसका महत्व ही उन बेचारे चमारों के लिए क्या था? मनस्तुष्टि के अतिरिक्त वहाँ था ही क्या? इन चमारों के लिए मंदिर प्रवेश उतनी महत्वपूर्ण समस्या नहीं है जितना अछूतोद्धारकों के लिए इसका महत्व रहा है। गांवों में भी अछूतों की समस्या मंदिर प्रवेश की समस्या नहीं है वरन् उनकी मुख्य समस्या है आर्थिक जीवन में आवश्यक सुधार और उनके संस्कारों को उन्नत बनाना। इन दोनों समस्याओं का हल यह मंदिर प्रवेश न ला सका। इसके विरुद्ध मंदिर प्रवेश से उसी सवर्ण वर्ग का ही लाभ हुआ। लाठी गोली चमारों को मिली और दक्षिणा ब्रह्मचारी जी को। कर्मभूमि की इस कथा की अभिव्यक्ति के द्वारा प्रेमचन्द ने यह सिद्ध कर दिया है कि मंदिर में प्रवेश की समस्या इन अछूतों के लिए गौण ही नहीं वरन् महत्वहीन है। सर्व प्रथम उनके संस्कारों एवं आर्थिक दुर्दशा का ठीक करना अपेक्षित है।

बहिष्कृत अछूतों के अन्तर्गत व्याप्त दोष और कुप्रथाएं किसी प्रकार से भी उपेक्षणीय नहीं हैं। इन दोषों और कुप्रथाओं की ओर से विमुख होकर उन्नति करने वाले अछूतोद्धारक कभी भी अपने कार्य में सफलीभूत नहीं हो सकते। इन दोषों एवं कुप्रथाओं में विशेष रूप से उल्लेखनीय है अधिकारों के प्रति उदासीनता, आलस्य और गोमांस भक्षण। इन दोषों के लिए केवल अछूतवर्ग ही नहीं उत्तरदायी है वरन् एक बहुत बड़े अंश तक हमारा सवर्ण समाज भी इसके लिए उत्तरदायी है। हम उच्चवर्ण वालों ने उन्हें अपंग और अकर्मण्य बना दिया है। उच्च वर्ण के प्रयत्नों से ही यह वर्ण अपने अल्पाय में ही मस्त और व्यस्त है। वह समझ बैठा है कि भाग्य में उसके लिए दारिद्रय और दुर्दशा ही लिखित है। उसने जान लिया है कि उसकी कर्मण्यता का और कर्मठता का क्षेत्र बहुत ही सीमित है। वह जानता है कि उच्च वर्णों के समाज में वह हेय और अपदस्थ है और इसीलिए मनोवैज्ञानिक प्रभाव एवं कारणों से उसका कार्यक्षेत्र सीमित और छोटा है। उच्च वर्ण ने उसे साधन विहीन और शोषित बना दिया है। अछूत आय के लिए जो पेशे और उद्यम सवर्ण वर्ग ने शेष रखे हैं उनमें आय के लिए विशेष अवकाश और स्थान नहीं हैं। सीमित आय, सीमित साधन, सीमित वातावरण और सीमित उद्यम ने इस वर्ण में वह गरीबी की भावना जाग्रत कर दी है जो युगों तक पीछा नहीं छोड़ेगी। गरीबों में सवर्णों के अनुकरण की प्रेरणा, अनुकरण की प्रवृत्ति आदि है पर दुर्भाग्य से अछूत वर्ण ने सवर्ण के दोषों का ही अनुकरण किया। उसने देखा सवर्ण मांस मदिरा के दास हैं अतः उसने भी मांस मदिरा को अपनाया। परन्तु अन्य जीवों का मांस इन अभागे अन्त्यजों के लिए सुलभ नहीं था। अतः इस वर्ण ने गोमांस भक्षण प्रारम्भ किया। गो-मांस-भक्षण उनके लिए विशेष उपयोगी और अत्यन्त सस्ता पड़ता है। गाय

की खाल जूते और चमड़ा बनाने के लिए तथा गोश्त खाने के लिए उपयोगी हुआ। चमड़े ने उनकी आर्थिक समस्या को हल कर दिया और गोश्त ने उनके स्वाद और पेट भरने की समस्या का हल निकाल दिया। इस प्रकार चमारों तथा अन्य अन्त्यजों में गोमांस भक्षण की कुप्रथा का जन्म हुआ। पर इसके लिए कौन उत्तरदायी है सवर्ण या अवर्ण ? गोमांस भक्षण के कारण सवर्णों में अवर्णों के प्रति एक जन्मजात घृणा का बीजारोपण हुआ। प्रेमचंद इस समस्या से अपरिचित नहीं थे उन्होंने इस समस्या की विवेचना अपने कर्मभूमि के द्वितीय भाग में की है और अंत में चमारों में गोमांस-भक्षण का परित्याग भी अंकित किया है। ये चमार भी आदमी ही हैं पर बिना किसी की सहायता के अपने दोषों और कलंकों को त्यागने में समर्थ किस प्रकार हो सकते हैं ? उनमें शिक्षा, संस्कार और सभ्यता का नाम नहीं है फिर भला वे किस प्रकार दोषों और कुप्रथाओं के भयंकर भूत से अपना पीछा छुटा सकते हैं ?

घर से भगने के कारण अमरकांत हरद्वार के समीप एक गांव में जा पहुँचा जो पूर्णतया चमारों की बस्ती थी। इस गांव में वह दस ग्यारह मास निवास करता रहा था। गांव भर में उसका सम्मान था और वह सबकी सहानुभूति का पात्र था। एक दिन "सहसा शोर सुनकर अमर ने आखें उठाईं तो देखा पंद्रह बीस आदमी बांस की बल्लियों पर उस मृतक गाय को लादे चले आ रहे हैं। सामने कई लड़के उछलते कूदते, तालियां बजाते चले आते थे।" उसने मुन्नी से पूछा यह क्या है ? मुन्नी ने कहा "वाह ! तुम्हें खबर नहीं है। पहर रात सिरोमनपूर के ठाकुर की गाय मरी · आज घर घर सिकार बनेगा।" अमर की सुधारवादिता और आदर्शवाद विलुप्त हो गया। वह यहां खड़ा न रह सका। गंगातट की ओर

भाग निकला। मुन्नी ने कहा—"तो भाग जाने से क्या होगा। अगर बुरा लगता है तो जाकर समझाओ।" पर अमर को अपनी सामर्थ्य और शक्ति का ज्ञान था। अंत में मुन्नी ने उत्सव स्थल पर जाकर उस अमर के भाग जाने की बात कही। कुछ ने उपेक्षा की अन्य लोगों ने कहा "भाग जाने दो।" प्रयाग ने कहा "तो हम कौन किसी ब्राह्मण-ठाकुर के घर बेटी व्याहने जाते हैं। ब्राह्मणों की तरह किसी के द्वार भीख मांगने तो नहीं जाते! यह तो अपना अपना रिवाज है।" गूदड़ गाँव का चौधरी था। उसने पूछा—"आखिर कहते क्या हैं।" मुन्नी झुंझलाकर बोली "अब उन्हीं से जाकर पूछो। जो चीज और कोई ऊँची जाति वाले नहीं खाते, उसे हम क्यों खांय, इसी से तो लोग हमें नीच समझते हैं।......यह कोई अच्छी बात है कि सब लोग हमें नीच समझें जीभ के स्वाद के लिए।" पर मुन्नी के तर्क को वहाँ सुनने वाला कौन था। अंत में मुन्नी ने सत्याग्रह किया। वह बोल उठी...... "अब इसी बात पर मैं देखती हूं कि कैसे घर में सिकार जाता है। पहले मेरी गर्दन पर गँडासा चलेगा।" इतना कहकर मुन्नी गाय के पास घुसकर बैठ गई और ललकार कर बोली— "अब जिसे गँडासा चलाना हो चलावे मैं बैठी हूँ।" प्रयाग ने कातर भाव से कहा "हत्या के बल खेती खाती हो और क्या?" बड़े वाद विवाद के बाद अंत में मुर्दा मांस खाने की प्रथा का अन्त होता है। मुन्नी गांव में अनेक व्यक्तियों के क्रोध का लक्ष्य बनती है पर उसमें सत्य के लिए लगन है। प्रयाग ने जब देखा कि उसके आनन्द में मुन्नी मक्खी बन कर गिर पड़ी और पूरा आनन्द बेमजा होगया तो वह सबको धिक्कारता हुआ अपनी खीज उतारता हुआ बोला "अब मेहरियों—का राज है, मेहरिया जो कुछ न करें वह थोड़ा है!"

इस प्रकार उस गांव में गो-मांस-भक्षण का अंत दिखाया गया है। प्रेमचंद ने दिखाया है कि सुधार करने के लिए अमर की भांति अत्यधिक आदर्शवादी और भावुक बनने की आवश्यकता नहीं है। उससे कोई लाभ भी तो नहीं है! हम कर कुछ तभी सकेंगे जब मुन्नी के समान क्रियाशील और व्यावहारिक बनने का प्रयत्न करेंगे।

मदिरा पान निम्न वर्ग और विशेषतया अछूत वर्ग के व्यसनों में बड़ा विषमय प्रभाव रखता है। मदिरापान का प्रभाव द्विधारी घातक है। प्रथम कुप्रभाव पीने वाले की आर्थिक दुर्दशा है और द्वितीय स्वास्थ्य विनाशकारी प्रभाव है। इसका व्यवहार समाज के विशेष रूप से दो वर्गों में प्रचलित है। प्रथम वर्ग है लक्ष्मी के वरद पुत्रों का उच्चवर्ग जिसके पास पर्याप्त धन राशि है पर उस को फूंकने के साधन अपर्याप्त हैं। देश की लाखों सन्तानों का शोषण करके आज वे सभी व्यसनों दुर्गुणों और अनाचारों को करने में समर्थ हैं। जीवन उनके लिए कुछ दिनों का मेला है जहां खाना-पीना ही सब कुछ है। उनका जीवन दर्शन बहुत अंश में उमरखैय्याम के सिद्धांतों से प्रभावित है। निम्नवर्ग इस उच्च वर्ग की चुनौती की भांति समाज में वर्तमान है। वह फाके-मस्ती के सिद्धांतों को प्रसन्नता नहीं वरन् विवशता के कारण गले से लगाए हुए हैं। जीवन उसे भार स्वरूप प्रतीत होता है। पर जीना ही है अतः वे तब तक जीवित हैं जब तक मृत्यु उनका स्वागत नहीं करती है। जीवन पर्यन्त वे संसार की कठिनाइयों से संघर्ष करते और एक दिन जीवन की समस्त अधूरी आशाओं, आकांक्षाओं, लालसाओं और अभिलाषाओं का भार लादे हुए मृत्यु के शीतल आलिंगन को पाकर शांति की चिर निद्रा में सुप्त हो जाते हैं। जीवन के संघर्षों, संतापों और विपत्तियों को भूलने- भुलाने के लिए यह

वर्ग मद्य पान करता रहता है। इस वर्ग के लिए यह व्यसन नहीं आवश्यकता बनती जा रही है, यद्यपि इसके विनाशकारी प्रभाव से वे अपरिचित नहीं हैं। इस अछूत वर्ग में धोबी, चमार, मेहतरों और पासियों में मद्य पान की प्रथा सी है। इनके कतिपय त्योहार, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर मदिरा का पीना अनिवार्य माना जाता है। इस व्यसन के कारण अवर्ण वर्ग की गाढ़ी कमाई का एक बहुत बड़ा भाग व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। प्रेमचंद की सूक्ष्म दृष्टि अछूतों की मद्य-पान समस्या पर भी गई। अमरकांत के ही प्रभाव और प्रेरणा से चमार शराब पीना बन्द कर देते हैं। यहां तक कि गांव का चौधरी जो जीवन भर शराब पीता रहा अमर से प्रभावित होकर मद्य पान का त्याग कर देता है। अमर उन चमारों को समझाता है कि "जहां सौ में अस्सी आदमी भूखों मरते हैं वहां दारू पीना गरीबों का रक्त पीने के बराबर है।" गांव के चमार अशिक्षित भले ही हैं पर उनमें कर्तव्य और सद् सद् विवेक बुद्धि अवश्य है और वे इसीलिए पीना छोड़ देते हैं कि पीने से अधिक आवश्यक है पेट की अग्नि शांत करना। मुन्नी को भय है कि ऐसा न हो कि शराब छोड़ते ही चौधरी बीमार पड़ जाय और इसीलिए वह स्वास्थ्य के लिए चौधरी से पीने का आग्रह करती है। पर चौधरी दृढ़ प्रतिज्ञ है। वह कहता है"........चाहे दरद हो, चाहे बाई हो, अब पीऊंगा नहीं। जिन्दगी में हजारों रुपये की दारू पी गया। सारी कमाई नसे में उड़ा दी। उतने रुपये से कोई उपकार का काम करता, तो गांव का भला होता और जस भी मिलता। भूख को इसी से बुरा कहा है। साहब लोग सुना है, बहुत पीते हैं, पर उनकी बात निराली है। यहां राज करते हैं। लूट का धन मिलता है, वह न पिये, तो कौन पिये।"

इसी प्रकार कर्मभूमि में अन्य अछूत जिनमें प्रयाग और काशी मांस और मदिरा के जीवन पर्यन्त दास बने रहे अब सद्बुद्धि से प्रेरित होकर अमर से पढ़ना लिखना सीखने लगते हैं। अछूतों को शिक्षा देकर उन्हें मनुष्य बनाने के कार्य में अमर जैसे नवयुवकों की समाज में बड़ी आवश्यकता है। चमारों के उस गांव में अमर बच्चों को लेकर बूढ़ों तक को साक्षर बनाने का प्रयत्न करता है। अमर की पाठशाला का एक दृश्य प्रेमचन्द के ही शब्दों में पठनीय होगा।

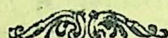
"अमरकांत की झोपड़ी में एक लालटेन जल रही है। पाठशाला खुली हुई है। पन्द्रह-बीस लड़के खड़े अभिमन्यु की कथा सुन रहे थे। अमर खड़ा वह कथा कह रहा था। सभी लड़के कितने प्रसन्न हैं। उनके पीले चेहरे चमक रहे हैं, आखें जगमगा रही हैं।"

समाज द्वारा उपेक्षित इन अछूत बालकों में पढ़ने की जो प्रसन्नता उत्सुकता और लगन दीख पड़ती है वह सवर्ण वर्ग में दुर्लभ है। फिर भी उनकी शिक्षा की समस्या इसलिए नहीं हल होती कि वे अछूत हैं उन्हें पढ़ाये कौन ?

आज भी समाज को अमरकांत जैसे सहृदय, व्यक्तियों की आवश्यकता बनी हैं जो अछूतों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करके उन्हें सम्मान पूर्वक जीवित रहने की शैली का पाठ पढ़ाए।

समाज के उच्च वर्ण इन अछूतों से सदा से ग्रहण करते आ रहे हैं। पर आज वह समय आ गया है जब उन्हें देना है, उन्हें जीवित रखने के लिए देना ही होगा। यह दान सहयोग सहानुभूति, सहायता और साहचर्य का होगा। आज हमारे उच्च वर्ग को सहभोज, सहशिक्षा, समानता एवं विवाह का

अधिकार–उदारता पूर्वक और प्रसन्नता पूर्वक देना ही होगा। यह समय की मांग है, युग की मांग है, इतिहास की मांग है आज मानवता के सीमित क्षेत्र को वृहत्तर करना अनिवार्य है। इसी से देश, समाज, संस्कृति और राष्ट्र का कल्याण है।



प्रेमचंद और समाज

प्रेमचंद समय और देश के साथ चलने वाले कलाकार थे। परिस्थितियों की प्रगति की ओर वे सदैव चेतन रहे। उनका साहित्य इस बात का द्योतक है कि उन्होंने परिस्थितियों और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का निकट से अध्ययन किया और उन्हें एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार के समान उपन्यास के पृष्ठों में अभिव्यक्त कर दिया। यही कारण है कि प्रेमचंद द्वारा अभिव्यक्त चित्र कला की दृष्टि से बड़े स्वाभाविक और आकर्षक प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यास में कथावस्तु की भित्तियां सामाजिक समस्याओं की नींव पर खड़ी हैं। प्रेमचंद ने जीवन की विभिन्न समस्याओं में समाजिक समस्या को प्रधान स्थान प्रदान किया है कारण कि समाज ही के आधार पर मानव जीवन की सद्-असद्, प्रवृतियों का विकास होता है तथा अन्य समस्याएं बनती और मिटती रहती हैं। प्रेमचद एक सामाजिक दार्शनिक हैं। वे सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक समस्याओं के आधार पर ठहरे हुए समाज की उत्तरोत्तर उन्नति और विकास में विश्वास करते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे ऐसे समाज के समर्थक थे जो विषमताओं असंगतियों विकृतियों से परे हो, जहाँ भेद-भाव की भावना से मानवता अभिशप्त न हो, जहां धन की नाप-तौल उच्चता की परख न हो, जहां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और विभाग में सब समान हों, सब महान हो, सबको समान सुविधाएं प्राप्त हों। प्रेमचंद का विश्वास क्रमशः समाजवाद के प्रति दृढ़ होता जा रहा था। गोदान में यह समाजवादी विश्वास खुले हुए रूप

में सामने आया। डा० इन्द्रनाथ मदान को एक पत्र में उन्होंने लिखा था "हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है। इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रांति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा यह सन्देहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीन कर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खड़ा हो। मैं शुद्धिकरण के पक्ष में तो हूँ, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि ध्वंस से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैंने ध्वंस की भी चिन्ता नहीं की होती।" इन पंक्तियों से प्रकट है कि प्रेमचंद व्यक्तिगत सुधार के पक्षपाती थे। स्मरण रखना होगा कि व्यक्ति समाज की इकाई है और व्यक्ति सुधार के अनन्तर ही वे देश-समाज का सुधार चाहते हैं। व्यक्ति और समाज दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर और आश्रित हैं। प्रेमचंद समाज को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विकृतियों से उन्मुक्त करना चाहते थे। यही उनका सामाजिक उद्देश्य है निश्चय ही हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचंद सर्वश्रेष्ठ समाजवादी लेखक हैं।

सामान्यतया प्रेमचंद की तूलिका से दो प्रकार के समाज चित्रित हुए हैं। प्रथम है ग्रामीण समाज जिसके अन्तर्गत किसानों मजदूरों के शोषित जीवन के बहुरंगे दृश्य अंकित किये हैं। समाज का यह रूप जितना रोचक है, उतना ही करुण भी। इस

चित्रण से शहर के पढ़े लिखे वर्ग को ग्रामीण जीवन की अनेक झांकियां देखने को मिलीं। उनके द्वारा शहर में रहने वाले व्यक्तियों का ग्राम्य जीवन विषयक ज्ञान बढ़ा। लोगों ने देखा कि सहुआइन दातादीन, झिंगुरी सिंह आदि महाजन किस प्रकार किसानों का लूट कर शोषण कर रहे हैं, अफसरों के दौरे प्रारम्भ होते ही किसानों से किस प्रकार बेगार ली जाती है और विरोध करने वाले बलराज को किन किन मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। इन दृश्यों में शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार, दुराचार और भ्रष्टाचार का भला रहस्योद्घाटन हुआ है। शोषित वर्ग का चित्रण करते हुए प्रेमचंद ने शोषित वर्ग का जीवन भी पाठकों के समक्ष खोल कर रख दिया है। शोषण चिरकाल से होता चला आ रहा है। किसान जानता है कि वह शोषक द्वारा चूसा जा रहा है फिर भी वह क्यों भाग्य और भगवानवादी ही बना रहता है? उसके अनेक कारण हैं जिनमें प्रमुख है धर्म और अशिक्षा। प्रेमचद की दृष्टि से अशिक्षा और धर्म के विष को फैलाने का उत्तरदायित्व समाज पर है। समाज को जगना होगा और अपने अस्तित्व को खोखला करने वाले तत्वों तथा हरामखोर उपजीवियों को उखाड़ कर फेंक देना होगा। जिस समाज में हम रह रहे हैं, वह श्रेणी समाज है। शोषण या लूट खसोट तो इस समाज की नींव है, उस श्रेणी समाज में दो प्रकार के वर्गों का अस्तित्व माना जाता है। एक तरफ वह वर्ग है जिसके सदस्य दूसरों की मेहनत से फायदा उठाते हैं दूसरी तरफ वह लोग जिनकी मेहनत की कमाई पहला वर्ग हड़प जाता है। इस वर्ग का प्रेमचंद ने बड़ा ही विशद चित्रण किया है। इस चित्रण से शोषित वर्ग का शायद ही कोई मनोविकार छूट सका हो। प्रेमचंद की लेखनी ने जिस द्वितीय कोटि के समाज का चित्रण किया है वह है पूँजी-पतियों का समाज। इस समाज के प्राणी लक्ष्मी के वरद पुत्र हैं

जो धन के बूते पर समस्त उत्पादनों पर कब्जा किये हुए हैं। ये साम्राज्यवाद, युद्ध और धार्मिकता के समर्थक और उपासक हैं। देश भर के उद्योग पर इनका कब्जा है। भूमि के मालिक बने बैठे हैं। हाकिम और अफसर शोषण कार्य में इनके हाथ-पांव बने हुए हैं। देश में अकाल, मंहगाई, अति वृष्टि अनावृष्टि आदि से उनका विशेष लाभ रहता है। यह वर्ग मजदूर किसान से अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य लेने का प्रयत्न करता है। इसी हड़पने और शोषण के लिए वह कारोबार बढ़ाता है। देश में बेरोजगारी बढ़ने से उसका सदैव लाभ रहता है। रायसाहब ज्ञानशंकर आदि, प्रेमचंद के इसी कोटि के पात्र हैं। ये पात्र ऊपर से देश-भक्त, कांग्रेसी, जन हितैषी बने हुए हैं पर अन्दर ही अन्दर ये देश का सबसे बड़ा अहित करने के लिए उद्यत रहते हैं?

समाज की जिन जिन विषम समस्याओं का चित्रण प्रेमचन्द ने किया है उन सबके मूल में सामाजिक व्यक्तियों की बुद्धि का अविकसित एवं अत्यन्त संकुचित रूप व्यक्त हुआ है। सामान्य रूप से सामाजिक अत्यधिक रूढ़िवादी और जड़वादी होते हैं। अस्पृश्य, बालविवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि के मूल में बुद्धि की संकीर्णता और रूढ़िवादिता विष के रूप में मौजूद है। आज समाज में विवाह समस्या बड़ी जटिल बन गई है। इनमें सर्वप्रथम दहेज प्रथा को ही लीजिए। 'निर्मला' में निर्मला, 'सेवा-सदन' में सुमन, 'गोदान' में रूपा आदि का विवाह सुपात्र एवं उपयुक्त वर के साथ इसलिए नहीं हो पाता है कि हमारे समाज का आधार धन है और जिसके पास धन नहीं है वह उपयुक्त सम्बन्ध कैसे करे? यह हमारे समाज का दुर्भाग्य है कि मनुष्य की अपेक्षा हम धन को अधिक महत्व देने लगे हैं। ये सामाजिक कुप्रथायें और धन लोलुपता मनुष्य से भांति भांति के कुकर्म कराती है। अपनी पुत्रियों के विवाह में दहेज देने के लिए ही तो

'सेवासदन' में कृष्णचन्द्र घूस लेते हुए पकड़े जाते हैं और फिर सज़ा होती है और गोदान में होरी दो सौ रुपया कर्ज लेकर अपनी प्रतिष्ठा नष्ट करता है। गबन में दहेज की आशा में हैसियत से अधिक व्यय करके मुंशी दीनदयाल अपना घर तबाह कर लेते हैं। अनमेल विवाहों का कारण समाज की अर्थप्रियता ही है। गोदान में रूपा का विवाह बुड्ढे रामसेवक, 'निर्मला' में निर्मला का विवाह अधेड़ वकील तोताराम, 'सेवासदन' में सुमन सी सुमन का विवाह निरक्षर अधेड़ गजाधर के साथ होता है। अन्त में इन तीनों का जीवन बर्बाद हो जाता है। इस अनमेल विवाह के मूल में भी वही आर्थिक अभिशाप है।

सामाजिक समस्याओं के मूल में आर्थिक पहलू विशेष प्रमुख है। समाज की व्यवस्था का आधार धन ही है इसलिए समाज में जितने संघर्ष दिखाई देते हैं वे सभी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ से ही सम्बन्धित हैं। इसलिए अर्थ शास्त्री और मननशील समाज शास्त्रियों ने समाज के निर्माण में धन की स्थिति की कटु आलोचना की है। आर्थिक सम्पन्नता व हीनता ही सामाजिक उन्नति-अवनति का कारण बनता है। समाज के सुचारु संचालन के लिए आवश्यक है कि उत्पादन, विनिमय और वितरण के साधनों में पारस्परिक संघर्ष न हो। प्रत्येक साधन सुविधा पूर्वक उत्पादन में सहायक हो। उत्पादन विनिमय आदि के साधनों में स्वयं उत्पादक का स्वार्थ निहित रहता है अतः वह स्वयं इनमें किसी प्रकार की विषमता व संघर्ष का समावेश नहीं होने देता। उत्पादन, विनिमय, वितरण पर उत्पादक का अधिकार हो जाना समाज के विकास का कारण होता है। समाज के स्वाभाविक विकास में गत्यावरोध तभी समुपस्थित हो जाता है जब उत्पादक के परिश्रम और उत्पादन पर चालाक पूंजीपति अधिकार कर लेता है। जब उत्पादकों में से कोई व्यक्ति अथवा इस संगठन से

बाहर कोई व्यक्ति इन उत्पादन के साधनों पर एकाधिपत्व निर्धारित कर लेना चाहते हैं, उस स्थिति में भी गत्यावरोध सम्भावित है। प्रत्यक्ष है कि आज इस युग का श्रेष्ठ अभिशाप साधनों की विषमता ही है। आज उत्पादक की स्थिति निराधार है। वह केवल उत्पादन कर सकता है पर विनिमय और वितरण में उसको हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। पूंजी ने निर्धन उत्पादन को पूर्णरूप से खरीद लिया है। उत्पादक अपनी असन्तोषजनक स्थिति जानता हुआ भी विवश है। यही समस्त परिस्थितियां समाज की उन्नति और विकास में बाधक हैं। पूंजीपति अत्यधिक शोषण में विश्वास करता है। और उत्पादक अपना पेट भरने में। एक वैभव का आकांक्षी है, दूसरा जीवन के लिए संघर्ष शील है। दोनों का यह पारस्परिक संघर्ष समाज की गति पर एक खासा प्रहार है। आज उत्पादक वर्ग के अधिकार में कुछ भी नहीं है। विवश होकर उसने अपनी श्रम शक्ति भी पूंजी के हाथों थोड़े से द्रव्य पर बेंच दी है। उत्पादक वर्ग में मजदूर और किसान प्रमुख हैं और मिल मालिक जमींदार तथा महाजन पूँजी के अधिकारि वर्ग के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों वर्गों के सम्बन्ध में आर्थिक वैषम्य है। और इसीलिए दोनों में संघर्ष चल रहा है। पूंजी का अधिकारि वर्ग स्वार्थ के साधना के लिए उत्पादक वर्ग को सदैव से अंधकार प्रवंचना में रखता चला आ रहा है। इन दोनों वर्गों का संघर्ष सार्वभौमिक है। पूंजी अधिकारि वर्ग और मेहनतकश वर्ग में भी आर्थिक दृष्टि से संघर्ष चल रहा है। आज मजदूर किसान काफी जाग्रत है और पूंजीवादी सभ्यता तथा, प्रणाली को धक्का पर धक्का देता जा रहा है। आज समाज का आर्थिक ढांचा जर्जर हो रहा है और वह दिन दूर नहीं है कि जब वह अपनी पुरानी धन्नियों-शहतीरों को लेकर भूमि पर आती है।

प्रेमचंद की रचनाओं में पूँजी अधिकारि-वर्ग के शोषण का केन्द्रविन्दु है किसान। यह किसान समाज की मशीन का एक महत्वपूर्ण पुर्जा है। वह पूरे समाज का अन्न दाता है। भारतवर्ष में समाज का निम्नतम और सर्वाधिक पीड़ित प्राणी अभी तक किसान ही रहा है। उसके उत्पादन पर पूंजी का अधिकार है। समाज के इस अत्याचार का प्रेमचंद ने अनुभव और विश्लेषण किया। समाज में उत्पीड़ित मानव की स्थिति सामाजिकों के अस्तित्व पर एक बड़ा कलंक है। ग्रामीण समाज और किसानों के जीवन के जितने भी संघर्ष हो सकते हैं वे प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में अभिव्यक्त हुए हैं। प्रेमाश्रम जमींदारी शोषण कथा का श्रेष्ठ उपन्यास है, और गोदान महाजनी शोषण का। अफ़सरों के दौरे-बेगार, घी के लिए, तक़ावी, बेगार-विरोध इजाफा लगान आदि विषयों को लेकर उपन्यास की कथावस्तु में जमींदार ज्ञानशंकर और कृषक-समाज का संघर्ष दिखाया गया है। ज्ञानशंकर उन जमींदारों के प्रतीक हैं जो शक्ति सत्ता से सम्पन्न हैं और जनता को पीसने के लिए जिन्हें हाकिम हुक्कामों से मनोवांछित सहायता भी मिलती रहती है। 'प्रेमाश्रम' में लगान के लिए फैजुल्लाह किसानों को धूप में खड़ा करवा और मुश्कें बंधवा के पिटवाता है। स्त्रियां इससे भी अधिक अपमान सहती हैं। किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जाती हैं, किसी के जूड़े नोचे जाते हैं। फैजुल्लाह को ज्ञात है कि किसानों के पास पैसा नहीं है पर फिर भी अत्याचार वह इस लिए करता है कि इससे उसकी पाशविक वृत्ति सन्तुष्ट होती है। 'प्रेमाश्रम' में मालिक ज्ञानशंकर से लेकर चपरासी तक सभी कृषक समाज पर अत्याचार करते हैं। प्रेमचंद साहित्य का महत्व इस बात में है कि इसके अन्तर्गत जमींदार वर्ग के शासन

की नृशंसता के सर्वांगीण वृहद् चित्र अंकित हुए हैं। उसकी अमानुषिक, नीरस वर्वरता को उन्होंने जनता के समक्ष उपस्थित किया और आदर्शवादी अंत होते हुए भी उन्होंने जमींदारी से किसी प्रकार समझौता नहीं किया। कर्मभूमि में लगानबंदी आन्दोलन और संघर्ष का वर्णन हुआ है। मंदी के कारण लगान चुकाना कठिन हो रहा है। जमींदार महन्त जी के अधिकारी प्रजा पर लगान के लिए अत्याचार करते हैं। इस व्यवहार का प्रजा ने विरोध किया पर राज शक्ति के माध्यम से यह विद्रोह शांत हो जाता है। महन्त जी के ऐश्वर्य और शक्ति में किसे सन्देह हो सकता था। आत्मानन्द और अमर इन किसानों के नेता हैं। इसी आन्दोलन के फल स्वरूप किसानों का नेता अमर कांत गिरफ्तार हो गया। गांव के गांव बरबाद हो गए। सलीम जैसे सरकारी अफसरों ने किसानों के साथ सहानुभूति रखने के कारण इस्तीफा दे दिया। लगान बंदी आंदोलन के कारण परिस्थितियां कितनी विकृत हो जाती हैं, कृषक समाज कितनी विपत्तियों में फंस जाता है, इसका चित्रण प्रेमचंद ने बड़ी ही सफलता के साथ किया है। "प्रेमचंद की चित्रण शक्ति यहां अपनी चरमसीमा को पहुँची हुई है। थोड़े से शब्द जैसे विष के बुझे हुए हृदय में घाव कर देते हैं। शब्दों में चित्रांकन की अद्भुत क्षमता है और जो चित्र आंका जाता है वह अपने भाव गांभीर्य में अपूर्व है।" (प्रेमचंद-डा० रामबिलास शर्मा पृ० ९३) गोदान में कृषक समाज का संघर्ष महाजनों से दिखाया गया है। गोदान में जमींदार तो एक ही है पर महाजन तीन तीन हैं। सहुआइन अलग, मंगरू अलग और दातादीन महराज अलग। ये तीनों महाजन कृषक समाज को जोंक की भाँति चूस ले रहे हैं। पांच वर्ष पूर्व मंगरू से होरी ने साठ रुपया बैल खरीदने के लिए उधार लिये। साठ वह अदा कर चुका था फिर भी साठ रुपया बाकी ही रह गए। इसी प्रकार पंडित

दातादीन से तीस रुपए आलू बोने को लिये और धीरे २ वह रकम तीन सौ हो गई। दुलारी सहुआइन के सौ रुपया अलग से बाकी हैं। अन्न सब महाजन लाँक पर से ही उठा ले जाते और फिर भी वह ब्याज का कर्जदार बना ही रहता है। होरी का जीवन ब्याज देते देते ही बीत जाता है परन्तु फिर भी वह ऋण के बोझ से उन्मुक्त नहीं हो पाता। यही देख कर उसका लड़का गोबर शहर जाकर मजदूरी करने लगता है। कुछ दिनों कमाने के बाद गोबर घर लौटा। सब महाजनों को आशा बँधी। पर गोबर की कमाई जलते हुए तवे में पड़ी हुई तेल की बूँद के समान समाप्त हो गई। होरी के रूप में किसान के जीवन का यही क्रम है कि वह महाजन से उधार लेकर जमींदार को लगान देता है और अपनी कमाई वह लाँक पर से महाजन को दे देता है। किसान फिर भी भूखा का भूखा ही बना रहता है; चाहे वह जितना क्यों न पैदा करे।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में जमींदार, महाजन और हाकिम सभी किसानों का शोषण डटकर कर रहे हैं। किसान जानता है, समझता भी है पर उसके पास विरोध करने का कोई साधन नहीं है कोई संगठन नहीं है। जहां भी उसने आना-कानी की वहीं संघर्ष खड़ा हो जाता है। यदि वह अपने उत्पादन और धन को इन वर्गों से लुटवाता रहे तो कोई भी संघर्ष की बात नहीं है। किसानों के जीवन में घातक कीड़े के समान महाजन चिपका हुआ है। जितने भी शोषक हैं उनमें सबसे कटु और व्यंगपूर्ण चित्रण प्रेमचन्द ने महाजन का किया है। किसानों का जीवन समस्त दृष्टिकोणों से अभिशप्त बना हुआ है। वह सामाजिक आचार विचार के निर्जीव बन्धनों द्वारा इतनी बुरी तरह जकड़ दिया गया है कि उसकी धार्मिकता अंधविश्वास उसके लिए शोषण के कारण बन गए हैं।

उत्पादक और पूंजी अधिकारि वर्ग के इस सामाजिक संघर्ष का एक और भी रुख है। महाजन अपने अत्याचारों और कुकर्मों पर लेशमात्र दुखी नहीं होता है। अपनी चालाकी में वह कानून की सीमाओं को भी पार कर जाता है। 'गोदान' में दातादीन महराज ने झिंगुरी से कहा कि "सरकार महाजनों से कहती है कि सूद की दर घटा दो, नहीं तो डिग्री न मिलेगी।" कानून और सरकार की अवहेलना करते हुए झिंगुरी ने कहा "हम निश्चिंत हैं। दर हम कम लिखावेंगे लेकिन एक सौ में पचीस पहले ही काट लेंगे, इसमें सरकार क्या कर सकती है? रोज ही देखा जाता है कि कानून और न्याय उसका है जिसके पास पैसा है। ऐसा ही होता आया है और होगा भी ऐसा ही।" स्पष्ट है कि महाजन को पैसे का कितना घमण्ड है पैसे पर कितना साहस है। वह पैसे के बूते पर कानून को भी नचाने की शक्ति रखता है।

समाज में झूठी प्रतिष्ठा और इज्जत बनाए रखने की प्रवृत्ति मध्यवित्त परिवारों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। 'गबन' में रमानाथ के पतन और परिवार के विनष्ट होने के लिए यही प्रवृत्ति उत्तरदायी है। रमानाथ, पत्नी, मित्रमण्डली, वकील साहब, रतन और अन्त में अदालत में भाँति भाँति से झूठ बोल कर अपनी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाने के लिए उत्सुक रहता है। सच तो यह है कि हमारे समाज में मानापमान प्रतिष्ठा की नाप तौल का पैमाना बड़ा ही क्षुद्र और उथला है।

'निर्मला' में निर्मला को अपने विमाता होने के कारण समाज का भय लगा रहता है। जियाराम को कमरे से आभूषण लेकर निकलते हुए देखकर भी वह इस लिए चुप रहती है कि "लोग यही कहेंगे कि सौत के लड़के पर झूठ-मूठ दोष लगाती है। एक को मार चुकी, दूसरे को जेल भिजवाना चाहती है।" लड़का

भले ही बिगड़ता जाय पर विमाता को कोई भी अधिकार नहीं कि वह आदत सुधार सके। यह है समाज की स्थिति का निम्न रूप!

कर्मभूमि में पति-पत्नी (अमर–सुखदा) में समाज की निःसार मानापमान भावना के कारण कलह लगा रहता है। अमर को गट्ठा लादे हुए खद्दर बेचते हुए देखकर वह कहती है "चाहे तुम्हें बचुका लादते शर्म न आती हो लेकिन तुम्हारी इज्जत के साथ मेरी इज्जत भी तो बंधी हुई है। तुम्हें कोई अधिकार नहीं कि यों मुझे अपमानित करते फिरो।" समाज का कैसा अभिशाप है। यहां उपजीवी बनकर जीवित रहना सम्मान की बात है पर मजदूरी करके स्वावलम्बी बनना अपमान का विषय है। निश्चय ही यह भावना समाज के विनष्ट हो जाने की भविष्य वाणी है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे समाज का आधार अर्थ सम्पत्ति है। सम्पत्ति धनार्जन के लिए मनुष्य निम्न और घृणित कार्यों को भी अंगीकार कर लेता है कर्मभूमि में समरकांत अपने पुत्र अमर का बाल विवाह इसलिए कर देते हैं कि उन्हें पुत्र बधू ऐसी मिल रही है जो उत्तराधिकार सूत्र में बड़ी जायदाद लाने वाली है। प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर अपने साले की मृत्यु का समाचार पाकर इसलिए नहीं फूले समाते कि अब श्वसुर की सम्पत्ति उनकी धर्म पत्नी विद्या को ही प्राप्त होगी। इसकी चरमसीमा वहां परिलक्षित होती है जहां ज्ञानशंकर को उस जायदाद से इतना मोह हो जाता है कि वह अपने श्वसुर के खर्च को भी नहीं बर्दाश्त कर पाता है। फलतः ज्ञानशंकर अपने श्वसुर को भी विष देकर सम्पत्ति प्राप्ति का मार्ग निष्कंटक कर लेता है। यही ज्ञानशंकर और आगे चलकर धार्मिकता का बाना धारण कर लेता है। क्या समाज में धन का इतना महत्व

है कि मनुष्य अमानुषिक कार्यों में तत्पर रहे ? क्या सम्पत्ति की अकांक्षा से मनुष्य अपने प्रियतम व्यक्तियों को विष देता फिरे ? कैसी विडम्बना है कि पाप एवं दुष्कर्मों के आधार पर अर्जित धन के आधार पर मनुष्य समाज में प्रतिष्ठा का पात्र बन जाता है।

'सेवासदन' भी सामाजिक संघर्षों के चित्रों को हृदयंगम करने में सहायक है। धन की नींव पर संगठित समाज में सुमन जैसी कितनी ही स्त्रियां वेश्या वृति इसलिए धारण कर लेती हैं कि समाज में स्वावलम्बी व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। जीविकाअर्जन का प्रत्येक क्षेत्र शोषित है। पति के द्वारा घर से निष्कासित सुमन कभी मशीन से कपड़े सिलकर जीविका कमाना चाहती है और कभी महराजिन का काम करके। पर समाज में उसके लिए ये धन्धे भी सुलभ नहीं। फलतः उसको अपने लिए केवल वेश्यावृति का मार्ग खुला हुआ प्रतीत होता है। समाज के पतन की इससे अधिक और क्या सीमा हो सकती है ? 'सेवा सदन' में सामाजिक संघर्ष उस स्थल पर और भी तीव्र हो जाता है जहां समाज के कथित नेता सुमन का न तो वेश्यावृति से उद्धार करना चाहते हैं और न उसके जीवन निर्वाह का ही कोई प्रबन्ध हो पाता है, कितनी विषमता है कि इन वेश्याओं के कृपाकांक्षी समाज सुधारक समाज में समादरित हैं परन्तु वेश्याएं पतित कुलटा और दुश्चरित्र आदि उपाधियों से विभूषित की जाती हैं।

'गोदान' में शूद्र एवं ब्राह्मण वर्ग का सामाजिक संघर्ष व्यक्त हुआ है। गांव भर जानता है कि सिलिया चमारिन से मातादीन महराज का सम्बन्ध है परन्तु फिर भी मातादीन

महराज सर्व पूज्य इसलिए हैं कि वे जन्मजात ब्राह्मण हैं। इतना ही नहीं, चमारों द्वारा घृणित वस्तुओं के खिला देने पर मातादीन का काशी के ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर फिर शुद्ध हो जाना कितना हास्यास्पद है! क्या इन भावनाओं को लेकर समाज अधिक दिन जीवित रह सकता है?—१

सामाजिक संघर्ष की समस्याओं पर विचार करने के अनन्तर सामाजिक रूढ़ियों की आलोचना अपेक्षित है। सामाजिक रूढ़ियों में सर्वप्रथम है अंध विश्वास। चाहे निर्मला की दुनियां हो चाहे 'गोदान' की दुनियां—प्रत्येक स्थल पर सामाजिक अंध विश्वासी हैं। यह कुप्रवृति शिक्षित—अशिक्षित धनी—निर्धन, ब्राह्मण-शूद्र सब में समान रूप से पाई जाती है। 'निर्मला' में भानुचन्द्र अपने पुत्र की शादी उदयभानु की लड़की से सब कुछ तय हो जाने पर भी अंधविश्वास के कारण नहीं करते हैं। इन्हीं अंधविश्वासों के कारण निर्मला का जीवन दुखमय और नरकगामी बनजाता है। 'सेवासदन' की दुनियां में भी यह अंधविश्वास सर्वत्र दुर्दिन के बादलों के समान छाया हुआ है। सुमन के पतन का कारण अंधविश्वास मात्र है। 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' की कथा वस्तु में अंधविश्वास का माद्दा मौजूद है।

कायाकल्प तथा कर्मभूमि में रूढ़िगत कमवाद, जन्मांतरवाद आदि के दर्शन होते हैं। जन्मांतरवाद की विचार धारा यद्यपि इस देश में बहुत जनप्रिय रही है परन्तु यह निश्चय ही प्रगति विरोधी है। यह विचार धारा हीन भावना के प्रसार में विशेष सहायक होती है। इस जन्मांतरवाद के ओट में भारतीय

१. इस सम्बन्ध में 'प्रेमचन्द और अछूत' परिच्छेद में सविस्तार विचार किया गया है।

जनता को धार्मिक नेताओं ने युग तक मूर्ख बना कर स्वार्थ साधना की है। दान देने से, ब्राह्मण खिलाने से और गोदान करने से, जन्म बनता है। यदि इस जन्म में न्याय नहीं हो सका तो अगले जन्म में होगा इस तरह की विचार धारा शोषण के लिए विशेष सहायक होती रही है। कायाकल्प में जन्मांतरवाद के आधार पर ही देव-प्रिया के प्रेम की चिरंतनता का चित्रण हुआ है जन्मांतरवाद की यह विचारधारा बड़ी व्यापक है पर इसका उल्लेख हिंदुओं के सर्वाधिक पवित्र एवं प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में नहीं हुआ है।

'रंगभूमि' में स्त्री समाज की तंत्र-मंत्र प्रियता का हास्यास्पद चित्रण किया गया है। स्त्रियां ही क्या पुरुष समाज भी इन अंधविश्वासों का अनुकरण करता जा रहा है। इसी प्रकार की अन्य रूढ़ियों का प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में उपहास किया है। सत्य तो यह है कि अंधविश्वासों की भंवर में फँसकर मनुष्य अपने कर्तव्य की भावना से विचलित होकर सेवा व्रत को भी विसर जाता है। इन सब दोषों का फल समाज का नैतिक पतन है!

व्यक्ति समाज की एक इकाई है। वह समाज का एक महत्व-पूर्ण भाग है। प्रत्येक व्यक्ति समाज के उत्थान पतन के लिए उत्तरदायी है। व्यष्टि के सम्मिलित एवं संगठित उद्योग से समाज के अन्तर्गत स्थायित्व का समावेश होता है और वह उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होता है। जिस समाज में शांति है सहयोग है, संतोष है, विश्व बन्धुत्व है, सौजन्य है, वहीं सुख है और वहीं स्वर्ग है। जिस समाज में एक व्यक्ति दूसरे के कष्ट को समझने का प्रयत्न करेगा वहीं सद्भावना की स्थापना हो सकती है, वहीं शोषण का अन्त हो सकेगा, वहीं जनवाद की स्थापना हो सकेगी। इसीलिए प्रेमचंद ने सामाजिक आदर्शों में क्षमा और दया पर विशेष

जोर दिया। प्रेमचन्द के उपन्यासों से यह ध्वनि निकलती है कि आज इस देश में जहाँ पूँजी ही सर्वोत्कृष्ट शक्ति है सामाजिकों (चाहे वे स्त्री हों या पुरुष) में बुद्धिवाद के स्थान पर उच्छृंखलता का प्रसार होता जा रहा है। 'युग धर्म' का नाम लेकर कथित सभ्यता का प्रदर्शन करके हम मानवता को पीसे डाल रहे हैं, विचार स्वातंत्र्य के नाम पर हम दूसरों की भावना को कुंठित और हृदय को दुखी करने में नहीं चूकते हैं। इन भावनाओं के जीवित रहते हुए हम अपने आदर्श समाज (जहाँ भेद भाव, वर्ग भेद, ऊँच-नीच का अभिशाप नहीं होगा) की स्थापना नहीं कर सकते प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भावना में परिवर्तन करना होगा अन्यथा शोषण रहित जनवादी समाज की स्थापना असम्भव है।



प्रेमचन्द्र की राष्ट्रीयता

किसी व्यक्ति का स्वदेश के लिए, जन्मभूमि के लिए, देश के निवासियों और समस्याओं के लिए प्रेम देश प्रेम या राष्ट्र प्रेम कहलाता है। राष्ट्रीयता और देश प्रेम जनता में पायी जाने वाली गहनतम भावनाओं में से एक है। कवियों ने देश व राष्ट्र के विषय में असंख्य गीत गाये हैं और साहित्यकारों एवं वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में कितना ही साहित्य लिख डाला है। परन्तु राष्ट्र प्रेम और देश प्रेम के विषय में प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टिकोण भिन्न है। स्वाभाविक भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शैली से चिन्तन अथवा मनन करता है। जब कोई मेहनतकश जनता का प्रतिनिधि देश प्रेम के विषय में बात करता है या मत प्रकट करता है तब वह देश प्रेम, राष्ट्र प्रेम की कर्तव्य भावना को मेहनतकश जनता की खुशहाली के लिए संघर्ष के साथ जोड़ देता है। इस के प्रतिकूल शोषक वर्गों के विचारक स्वाभाविक है कि अपने देश के लिए जनता के प्रेम को अपने वर्ग के स्वार्थ पूर्ण हितों के लिए प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं। बुर्जुआजी अथवा पूँजीपति वर्ग अंधराष्ट्रीयता एवं प्रतिक्रियावादी विचारधारा से जनता के मस्तिष्क को दूषित और विकृत करने के लिए देश प्रेम के स्थान पर राष्ट्रवाद को ले आता है। परन्तु सत्य यह है कि राष्ट्रवाद और अंधराष्ट्रवाद (chauvinism) की मेहनतकश जनता के देश प्रेम के साथ कोई समानता नहीं है। पूंजीपति वर्ग एवं बुर्जुआजी सदैव राष्ट्रीय विचारधारा एवं राष्ट्रीय पक्षपात से पूर्ण रहते हैं परन्तु जिस क्षण उनकी आमदनी पर आघात पहुँचता है अथवा ज्योंही खतरा उठ खड़ा होता है वे बिना लेशमात्र

संकोच किए हुए राष्ट्र के हित के साथ गद्दारी कर बैठते हैं। पूँजीवादी वर्ग के साथ का इतिहास राष्ट्रीय गद्दारी के उदाहरणों से भरा पड़ा हुआ है। मार्क्स ने कितना सत्य कहा था कि "जब से पूँजीपति वर्ग ने शासन अपने हाथों में ले लिया है उसका देश प्रेम खुली हुई धोखे बाजी से पतित हो चुका है।"❀ लेनिन ने कहा था कि 'जहाँ वर्ग के मुनाफे का सम्बन्ध है, पूँजीपतिवर्ग देश को बेच देगा और वहां की जनता के विरुद्ध किसी भी विदेशी शक्ति के साथ अप्रत्यक्ष रूप से लुक छिपकर सौदेबाजी कर लेगा।' (पैट्रियाटिज्म एन्ड इन्टरनेशलिज्म' ले०एस० तितारिको पृ० ३)2 इस कथन के समर्थन में चांग-काई-शेक का उदाहरण पर्याप्त होगा। जनता द्वारा शासन से निकाल दिये जाने पर भी चांगकाई-शेक अमरीकी साम्राज्यवादियों से चीनी जन तंत्र पर हमला करने के लिए अपील कर रहा है। यह गद्दारी प्रायः प्रत्येक पूंजीपति की विशेषता है। अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्र प्रेम वा देश प्रेम के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का दृष्टि कोण भिन्न होता है। प्रेमचंद की राष्ट्रीयता और देश प्रेम मेहनत कश जनता के प्रतिनिधि के रूप में है। अतः प्रकट ही है कि वे देश प्रेम की कर्तव्य भावना को प्रेमचंद ने राष्ट्र प्रेम अथवा देश प्रेम को अपनी लेखनी के द्वारा उपन्यास कहानियों के पृष्ठों

---

1. Ever Since the bourgeouisiehad become the ruling class its patriotism had degenerated into pure deception—Patriosm and International ism page I.

2. Where class profits are concerned the bourgeouisie will sell the country and will enter into shady deals against their people with any feriegner, I bid page3

में अभिव्यक्त किया है प्रेमचंद के साहित्य से स्पष्ट है कि उनके हृदय में देश के श्रमजीवी, मेहनतकश, विभुक्षित किसान अर्धनग्न मज़दूर देश के विगत गौरव, देश के मौजूदा सम्मान देश की समस्याओं और भ्रमाधंकार में भटकते हुए देश के नागरिकों के लिए कितना अथाह प्रेम था। यही नहीं, उन्हें अपने रहन सहन रीति-रवाज, भाषा-बोली, पहनाव, साहित्य तथा तौर-तरीकों के प्रति दृढ़ विश्वास और प्रेम है। अपने 'दोषों' और खामियों को स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति और लज्जा नहीं है पर साथ ही वे उसे सुधार लेने के लिए भी प्रत्येक व्यक्ति को संघर्ष क्षेत्र की ओर अग्रसर करते हैं। वे मानते हैं कि जीवन अपूर्णता का ही नाम है परन्तु यह अपूर्णता कलंक के रूप में नहीं होनी चाहिए। एक सच्चे देश प्रेमी की भाँति देश की समस्याओं को वे ध्यान से देखते और विचार करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनकी दृष्टि व्यापक थी। प्रेमचंद उन साहित्कारों में थे जो समाज की प्रत्येक प्रवृत्ति, व्यक्ति की मनोवृत्ति और देश की समस्याओं का निकट से विश्लेषण करते हैं और उनका प्रतिविम्ब साहित्य के पृष्ठों में चित्रित करते हैं। अपने राष्ट्र, और देश पर अभिमान होना प्रत्येक देश प्रेमी के लिए स्वाभाविक है। राष्ट्र के ऐतिहासिक कार्यों पर गर्व करने से वह रोका नहीं जा सकता। वह सच्चाई को समझता है कि उसके उपदेश ने भी दुनियाँ की सभ्यता और संस्कृति के विकास में योग दिया है। ये समस्त भावनाएं प्रेमचंद की ऐतिहासिक कहानियों में पल्लवित हुई है। प्रेमचंद ने इन ऐतिहासिक कहानियों में देश के विगत स्वर्गीय गौरव को व्यक्त करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विदेशियों के दमन और शासन के कारण भले ही गरीब सम्मान विहीन होगया हो परन्तु इस देश का भी एक समय था और उस समय इसने सम्पूर्ण विश्व को प्रकाश

दिखाया। देश के प्रति प्रेम तथा उसकी भलाई और वैभव के हेतु मनन एवं कार्य करने का यह अभिप्राय नहीं है कि वह अन्य देश की उन्नति और गौरव का शत्रु हो इसके विपरीत सच्चे देश प्रेमी के हृदय में देश की जनता के लिए प्रेम तो होता ही है परन्तु साथ ही वह दूसरे देशों की जनता के प्रति अपने हृदय में प्रेम रखता है। प्रेमचंद ने अंग्रेजों की शोषण नीति की कटु से कटु आलोचना की है। परन्तु वे उनके गुणों से घृणा नहीं करते इस प्रकार की भावना किसी भी व्यक्ति को आगे बढ़ने में सहायक हो सकती है।

देश का प्राण भारतवर्ष की वह जनता है, जो जीवन पर्यन्त खून-पसीने की कमाई के बूते पर जीवन यापन करती है, जो अपनी मेहनत की कमाई पर देश भर का पोषण करती है, जो स्वतः भूखे रहकर दूसरों का पेट भरती है, जो स्वतः अर्धनग्न रहकर दूसरों के तन को ढकत है। यह जनता मजदूर और किसान है। इनकी मेहनत की कमाई, हलाल के उत्पादन पर पूंजी पति हावी है। वह अपने धन से इन्हें हर प्रकार से अन्धकार में रखता है। इनको धर्म भावुकता, तथा परमार्थ के नाम पर चिरकाल से ठगा जा रहा है। इन्हें और इनके बच्चों को शिक्षा इसलिए नहीं दी जाती है कि इनमें जाग्रति का उदय न हो जाय। इन पूंजीपतियों के धन पर चुनाव में जीतने वाले मिनिस्टर इन्हीं के इशारों पर नाचते हुए जनता को शिक्षा से वंचित रखने के लिए शिक्षा को दिन पर दिन मंहगी बनाते जा रहे हैं। अनाज का भाव आज भले ही तीन सेर हो गया हो पर किसान और मजदूर को इस मंहगाई से लाभ क्या? किसी जमाने में वह एक रुपये में धोती का जोड़ा खरीदता था और आज वही जोड़ा सत्ताईस रुपये में

मिलता है। मंहगाई का मतलब हुआ एक हाथ से देकर दूसरे से छीन लेना। प्रेमचन्द का होरी जितना तब अभिशप्त था उतना ही आज। देश की आत्मा, प्राण किसानों मजदूरों और निम्न मध्य वर्ग के लिए, प्रेमचन्द जीवन पर्यन्त लेखनी से लड़ते रहे। इन वर्गों के दैनिक जीवन का उन्होंने नैकट्य से अध्यन किया, उनकी समस्याओं का मनन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उपजीवी (हरामखोर) पूंजीवादी इन्हें उठने नहीं देगा। इन में बिना जाग्रति उत्पन्न किये आजादी आजादी चिल्लाना व्यर्थ है। जब तक ये वर्ग विपन्न, भूखे और दुखी रहेंगे तब तक देश का उद्धार और कल्याण असम्भव है। जब तक किसान और मजदूरों की आत्मा दबी रहेगी तब तक देश गौरव से मस्तक कभी भी नहीं उठा सकता। उत्पादक के परिश्रम का लाभ उपजीवी उठाये यह कितना असंगत है। एक उत्पादन करके भी जीवन पर्यन्त, भूखा रहता है और दूसरा धन की सत्ता पर उत्पादक के श्रम ही नहीं वरन् व्यक्तित्व को भी खरीद लेता है यह कितना बड़ा अन्याय है। 'सेवासदन' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचंद ने जो कुछ लिखा वह राष्ट्र के इन अभिशापों के लिए लिखा। इन उपन्यासों में उन्होंने किसान और निम्न मध्य वर्ग के जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया। पूरे उपन्यासों को पढ़ लेने के अनन्तर इन दोनों वर्गों के जीवन की प्रत्येक दशा, प्रत्येक पहलू का स्पष्ट चित्र आंखों के आगे उतर आता है। जन जीवन की इतनी विस्तृत और सूक्ष्म गाथा हिंदी साहित्य में और कहां मिल सकती है ? जनता के उन वर्गों का चित्रण करके प्रेमचन्द ने अपने हृदयस्थ सच्ची जनवादी देशभक्ति का प्रमाण दिया। इन उपन्यासों से एक ध्वनि, एक आवाज उठती है कि जनता के लिए जनता का शासन कायम

हो। जनवाद ही समाज और देश की इन सभी बीमारियों की एक मात्र औषधि है। साम्राज्यवादी शासकों तथा पूँजीवादी रक्त चूसने वाली शक्तियों के विरुद्ध जनता को उठाने, संघर्ष करने और उन्हें पराजित करने के लिए प्रेमचन्द ने बलराज (प्रेमाश्रम) तथा मिठुआ, सूरदास (रंगभूमि) और अमरकांत (कर्मभूमि) जैसे पात्रों का सृजन किया। ये सभी पात्र जनता के प्रति कृत साम्राज्यवादियों के अत्याचारों को चुनौती देते हैं। जनवादी व्यवस्था की ओर इंगित करते हैं। जनवाद का आंदोलन, नई शांति, नई व्यवस्था और नये विकास को स्थापित करना ही इन कृतियों का चरम लक्ष्य है। राष्ट्र और देश के गौरव का विकास इन प्रयत्नों के बिना असम्भव है। 'कर्मभूमि' का चौधरी देखिये प्राचीन भाग्यवादी और भगवानवादी विचार के विरुद्ध कितना विद्रोह करता है :–

"चौधरी ने खण्डन किया यह सब मन को समझाने की बातें हैं बेटा, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे और अमीरों के राग रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते रहें कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया है, आदमी का क्या दोष, पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें और पेट भर भोजन न मिले और एक एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले। दस तोड़े रुपए हुए। गधे से भी न उठें।" (पृ० १६७) मेरी समझ में चिर दलित उपेक्षित किसानों के हृदय में इस प्रकार के भावों का बीजारोपण कर देने के अनन्तर प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। प्रेमचन्द के ये पात्र निश्चय ही राष्ट्र गौरव और सम्मान को बढ़ाने में समर्थ होंगे। इनका असन्तोष निश्चय ही इन बड़े आदमियों के लिए विष बन जायगा।

जनता में सुरुचि, एकता, सद्भावना एवं जागरण राष्ट्र के हेतु अत्यावश्यक हैं। यदि राष्ट्र को उन्नत बनाना है तो उसके नागरिकों में नागरिकता के गुणों का होना अनिवार्य है। प्रेमचन्द ने राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के हितार्थ ऐसे साहित्य की मांग और वकालत की है जो उपर्युक्त बातों का जनता के हृदय में बीजारोपण कर सके, जो उन्हें राष्ट्रीय भावना से सम्पन्न करके एकता के सूत्र में बांध सके, जो जन-जन के हृदय में सद्भावना उत्पन्न कर सके। अपनी मृत्यु से कतिपय समय पूर्व प्रगतिशील लेखक संघ (लखनऊ) का स्वागत करते हुए उन्होंने घोषणा की थी कि "हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वह अनुभव और वही चोटें कल्पना में पहुंचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति पैदा न हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जाग्रत हो-जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे वह हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं है......साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौंदर्य बोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है वह उसके लिए असह्य हो जाता है। उन पर वह शब्दों और भावों की सभी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि मानवता, दिव्यता और भद्रता का बन्धन बांधे होता है। जो दलित है पीड़ित है वंचित है —चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमायत और वकालत करना

उसका फर्ज है। स्पष्ट है कि साहित्यकार और साहित्य का लक्ष्य बड़ा महान है। दोनों ही नागरिकों या जनता में जागरण, गति और शक्ति संचार करने के अमोघ अस्त्र हैं।" इसी भाषण में आगे प्रेमचन्द फिर कहते हैं कि वह (साहित्यकार) हममें वफादारी, सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावों की पुष्टि करता है। जहां ये भाव हैं वहीं दृढ़ता और जीवन है जहां इनका अभाव है वहीं फूट, विरोध, स्वार्थपरता है द्वेष, शत्रुता और मृत्यु है। उसका दर्द से भरा हृदय इसे सहन नहीं कर सकता कि एक समुदाय क्यों सामाजिक नियमों और रूढ़ियों के बंधन में पड़कर कष्ट भोगता रहे, क्यों न ऐसे सामान इकट्ठा किये जांय कि वह गुलामी और गरीबी से छुटकारा पा जाय? वह इस वेदना को जितनी बेचैनी के साथ अनुभव कर सकता है उतना ही उसकी रचना में जोर और सचाई पैदा होती है।...... साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है— उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश भक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।" इन पंक्तियों में साहित्य और साहित्यकार के प्रति प्रेमचंद के विचार बहुत ही स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। गरीबी और दासता को मिटाना अपने देश के साहित्यकारों का धर्म है। वह व्यक्ति जो स्वतः जीवन पर्यन्त लेखक रहा हो और जो जीवन पर्यन्त गरीबी दासता से युद्ध करता रहा हो जो अपने अन्य साथियों को उसी मार्ग पर चलने के लिए आग्रह कर रहा हो, उसकी सच्चाई, ईमानदारी और देश प्रेम के प्रति किसी प्रकार का सन्देह करना सम्भव नहीं है। प्रेमचंद शांति प्रिय व्यक्ति थे जन जागरण का जो कार्य सहस्रों व्यक्ति कार्य क्षेत्र में सतत संलग्न रह कर भी नहीं कर सकते थे वह प्रेमचन्द ने अपनी लेखनी के द्वारा किया। उन्होंने लेखकों को

कर्तव्य ज्ञान के प्रति सतर्क किया, उन्हें अपने भाषणों और रचनाओं के द्वारा नौकरशाही के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रोत्साहित किया। और किसानों की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकर्षित किया प्रेमचंद ने साहित्य की नैतिक गिरावट का बड़ा घोर विरोध किया। भारतीय साहित्य परिषद् के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए उन्होंने मई १९३६ में लिखा था:—

"एक दल साहित्यकारों का ऐसा भी है जो साहित्य को श्लील अश्लील के बंधन से मुक्त समझता है। वह कालिदास और वाल्मीकि की रचनाओं से अश्लील शृंगार की नजीर देकर अश्लीलता की सफाई देता है।......जो रचना हमें कुरुचि की ओर ले जाय, कामुकता को प्रोत्साहन दे, समाज में गंदगी फैलाये वह त्याज्य है चाहे किसी की भी हो। साहित्य का काम समाज और व्यक्ति को ऊँचा उठाना है उसे नीचे गिराना नहीं।"

इस प्रकार लोक जीवन को ऊपर उठाने, सवांरने और बनाने वाले साहित्य की प्रेमचन्द ने बार बार मांग और वकालत की। अतएव साहित्य के दृष्टि कोण से भी प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता सराहनीय है।

साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता और राष्ट्र के लिए एक बड़ा जहर है। कहना न होगा कि यह जहर ब्रिटिश राज्य काल में देश की मिट्टी के अणु अणु में व्याप्त हो गया था और यही अंग्रेजी नौकरशाही की सफलता का सबसे बड़ा रहस्य था। जब जब और जहां जहां राष्ट्रीय भावनायें घनीभूत हुईं जनजागरण परिलक्षित हुआ, विद्रोही भावनाएं दृष्टिगत हुईं, अंग्रेजों ने धार्मिक नेताओं के माध्यम से साम्प्रदायिक दंगे करवा दिए। फल यह हुआ कि बढ़ती हुई क्षोभ की अग्नि साम्प्रदायिकता के कीचड़ से बुझ गई। साम्प्रदायिक आंदोलन और दंगे भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिए

महान अभिशाप रहे हैं। सन् १९३५-४० के बीच साम्प्रदायिकता का विष अपने चरम सीमा में देश पर छाया हुआ था। प्रेमचन्द ने एक सच्चे देशभक्त और राष्ट्र के शुभेच्छु के रूप में साम्प्रदायिकता के दोषों तथा तज्जनित प्रभाव का निदर्शन किया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में प्रचुर साहित्य लिखा और यह दिखाया कि इस संकीर्ण मनोवृति से देश समाज के विकास को कितना धक्का पहुंच रहा है। साम्प्रदायिकता में उलझे रहने के कारण हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है और हम शत्रु का सामना करने में असफल रहते हैं। सन् १९३० ई० में प्रेमचन्द ने 'हिन्दू-मुसलिम बांट बखरे का प्रश्न' टिप्पणी में लिखा था।

"भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है इसे मुसलिम जनता अब समझने लगी है। वह यह है कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा।" ('शांति के योद्धा प्रेमचंद' से उद्धृत)

यह तीसरी शक्ति अंग्रेज थे जिन्होंने देश की दो सन्तानों को कुत्तों की भांति लड़वाया, खून की नदियाँ बहवाईं और अपनी होशियारी से दोनों को गुलाम बनाये रखा। "धीरे धीरे जबी एक रोज ऐसा आया कि देश की हिन्दू-मुसलिम जनता अपने पूंजीवादी और सामन्ती नेताओं के असर से अपने आप को कुछ कुछ मुक्त करके जहाजियों की बगावत के समय अंग्रेजों के विरुद्ध आजादी की लड़ाई में एक होने लगी तो साम्राज्यवाद ने हवा का रुख पहचान कर देश के बटवारे की शैतानी साज़िश को पेश किया। देश का

बंटवारा हुआ और खून की ऐसी नदियां बहीं, इंसानों ने वह वह वहशियाना हरकतें कीं, जिनका संसार के पांच हजार साल के इतिहास में कोई जोड़ नहीं है। आखिरकार दोनों जातियों के वैमनस्य से फायदा उठाने वाली तीसरी शक्ति बनी रही, एकता का सूर्य उदय नहीं हुआ और स्वराज्य नहीं मिली, मिली ठीक वह चीज जिससे प्रेमचंद को दिली नफरत थी, जैसा कि हम देख आये हैं।" *"धार्मिक आधार पर देश के विभाजन के साथ ही हिन्दू मुसलमानों के भेद और संघर्ष की समस्या जो इस देश की समस्या थी अब अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गई है। ये दोनों वर्ग तीसरी संतुलन शक्ति के भिखारी बन गए हैं इसी लिए प्रेमचंद इस घृणित साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। हिन्दू-मुसलमानों में भेद का बीजारोपण करने वाले अंग्रेज तो थे ही परन्तु साथ ही में इस दोष के उत्तरदायी हमारे कथित कांग्रेसी नेता भी हैं। कांग्रेस के अन्दर स्वयं साम्प्रदायिकता की जोरदार लहरें बहती रही हैं और आज भी वह इससे शून्य नहीं है। अप्रेल १९३१ में प्रेमचंद ने इस विषय में लिखा था:—

"कांग्रेस में दुर्भाग्यवश हिन्दू और मुस्लिम मनोवृत्तियों का अभी तक काफी जोर है। हिन्दू-सभा के सैकड़ों ही उपासक उस आंदोलन को इस समय कमजोर देखकर कांग्रेस में आ मिले हैं और यहां भी यही जहरीला असर फैला रहे हैं। अगर कांग्रेस में इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलता तो पंथगत द्वेष कभी इतना भीषण रूप न धारण करता। इसमें से अधिकांश लोग अब भी कहने को तो कांग्रेस-मैन हैं, इंकलाब की चीख मारते हैं, झण्डे के गीत गला फाड़ फाड़ कर गाते हैं, लेकिन अन्दर देखिये तो राष्ट्रीयता छू तक नहीं गयी।

---

*शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द—श्री अमृतराय पृ० ३४

कानपुर में अगर हिन्दुओं ने अधिक मुसलमानों को मारा या मुसलमानों ने हिन्दुओं का वध करने में बाजी मारी तो वे संतुष्ट हैं। धर्म के संकीर्ण क्षेत्र के बाहर उनकी निगाह ही नहीं पहुँचती, वह या तो हिन्दू हैं या मुसलमान हिन्दुस्तानी पन का भाव उनसे कोसों दूर है। वे लोग मौके की ताक में हैं; ज्योंही जनता को धर्म की ओर झुकते देखेंगे तुरंत कांग्रेस से निकल भागेंगे; क्योंकि उन्हें लीडरी चाहिए चाहे कांग्रेस में मिले या मुस्लिम लीग में········जब तक इस दूषित मनोवृति का हम अंत न कर देंगे, जब तक हम अपना हिन्दू या मुसलमान होना भूल न जायँगे, जब तक हम अन्य धर्माव-लम्बियों के साथ उतना ही प्रेम न करेंगे जितना निज धर्म वालों के साथ करते हैं, सारांश यह कि जब तक पंथ जनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायगे, इस बेड़ी को तोड़कर फेंक न देंगे, देश का उद्धार होना असम्भव है········मगर धर्म को राजनीति से गड़बड़ न कीजिए !''

साम्प्रदायिकता के इतना भयानक और कष्टप्रद उत्थान के उत्तरदायी हैं हमारे इतिहासकार। ये इतिहासकार पूंजीवादी शक्ति के चेरे होते थे। इन शक्तियों ने इतिहासकारों से जैसा चाहा लिखाया। प्रेमचन्द की सूक्ष्म दृष्टि इतिहास के पृष्ठों में पैठकर विनाशकारी कारण को खोज लाने में समर्थ है। प्रेमचन्द जब राष्ट्र निर्माण या उन्नति की बात करते है तो किसी ठोस आधार को लेकर सप्रमाण बात कहते हैं। वे गांधीवादियों की भांति बायवी, कल्पित और अनिश्चित योजना के आधार पर देश को उन्नति शील बनाना मूर्खता समझते हैं। गांधी-वादी एकता-एकता जीवन भर चिल्लायगा पर उसके हृदय और मस्तिष्क में सचाई नहीं है ईमानदारी नहीं है। प्रेमचन्द की निम्नलिखित पंक्तियों को पढ़कर प्रगट हो जाता है कि साम्प्र-

दायिक मतभेद देखकर उनका हृदय कितना दुखी होता था। वे दिल से एकता के समर्थक थे कारण कि इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

"दिलों में गुबार भरा हुआ है, कैसे मेल हो। मैली चीज पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता, यहां तक कि जबतक दीवार साफ न हो, उस पर सीमेंट का पलस्तर भी नहीं ठहरता। हम गलत इतिहास पढ़ पढ़ कर, एक दूसरे के प्रति तरह तरह की गलत फहमियां दिल में भरे हुए हैं, और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानों उन्हीं पर हमारे जीवन का आधार हो। मुसलमानों को अगर यह शिकायत है कि हिन्दू हमसे परहेज करते हैं हमें अछूत समझते हैं, हमारे हाथ का पानी नहीं पीना चाहते, तो हिन्दुओं को यह शिकायत है कि मुसलमानों ने हमारे मंदिर तोड़े हमारे तीर्थ स्थानों को लूटा, हमारे राजाओं की लड़कियां अपने महल में डालीं और जाने क्या क्या उपद्रव किये। हिन्दू मुसलमानों के आचार और धर्म की हंसी उड़ाते हैं, मुसलमान हिन्दुओं के आचार और धर्म की। विजयी जाति पराजितों पर जो सबसे कठोर आघात करती है वह है उनके इतिहास को विषैला बना देना। प्राचीन हमारे भविष्य का पथ दर्शक हुआ करता है। प्राचीन को दूषित करके, उसमें द्वेष और भेद और कीना भरकर भविष्य को भुलाया जा सकता है। वही भारत में हो रहा है..........।"

इन पक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का यह मत है कि दोनों वर्गों में मेल उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व 'एक तीसरी शक्ति' पर है जो फूट उत्पन्न करके शासन करने में विश्वास रखती है। सत्य यह है कि यह साम्प्रदायिक झगड़ा सम्पन्न

वर्गों और पढ़े-लिखे व्यक्तियों की दिमागी उपज है। गरीबों को लड़वाकर और तबाह करके वे अपना महत्व बनाए रखना चाहते हैं। एक स्थान पर प्रेमचन्द ने लिखा है कि हिन्दू-मुसलिम झगड़ा, मेहनतकश जनता का झगड़ा नहीं, सम्पन्न वर्गों और पढ़े लिखे, सफेद-पोश, नौकरी पेशा या वकालत पेशा लोगों का पद और प्रभुता का झगड़ा है। मगर इस विचार को उन्होंने और आगे नहीं बढ़ाया, वर्ना यह राज खुलते देर न लगती कि ये उच्च वर्ग हिन्दू-मुसलिम जनता की एकता के प्रत्यक्ष या परोक्ष दुश्मन थे और यह कि एकता केवल गरीब मेहनतकशों के नेतृत्व में, रोजी और रोटी की आजादी और जनवाद की मिली-जुली लड़ाई के जरिये हासिल हो सकती है..........प्रेमचन्द साम्प्रदायिकता के जानी दुश्मन और स्वःथतम देश भक्त थे, हिन्दू-मुसलिम एकता की स्थापना उनके जीवन का व्रत था। हिन्दी और उर्दू के समान रूप से आदृत साहित्यिक होने के नाते वे इस कार्य के लिए उपयुक्त भी अधिक थे। कांग्रेस जनो में छिपी बैठी हिन्दू साम्प्रदायिकता भी उनकी आखों से छिपी नहीं थी और यह बात भी उनके नजदीक दिन की रोशनी की तरह साफ थी कि समाज का उच्च वर्ग ही एकता की राह में बाधक है वर्ना गरीब दबी-पिसी जनता तो एक हो जाये।*

प्रेमचन्द राष्ट्र और देश की स्वतंत्रता के लिए जीवन पर्यन्त प्रयत्नशील रहे। वे देश की पूर्ण स्वतंत्रता के साहित्यकार थे। उन्होंने उपनिवेशों की आजादी के आंदोलन का हृदय से समर्थन किया और उसके समर्थन में उन्होंने अनेक टिप्पणियाँ कीं। समाज की उपनिवेशों की आजादी की समस्या जहां एक ओर समय की मांग है वहां दूसरी ओर सम्राज्यवादी ताकतों

---

* शांति के योद्धा प्रेमचंद—अमृतराय, पृष्ठ ३८-३६

को ध्वस्त करने का एक अस्त्र है। यह प्रगट है कि ये सम्राज्य-वादी शक्तियां धन और प्रभुत्व के लिए अन्य देशों की सत्ता को दबाये रहती हैं। प्रेमचंद ने एक सच्चे जनवादी देश भक्त के समान भारतवर्ष की साधारण जनता के जीवन और आजादी के संघर्ष की गाथा को अपने साहित्य का प्रतिपाद्य बनाया। 'कर्मभूमि' तो जन संघर्ष और अधिकार रक्षा की कथा को लेकर ही आगे बढ़ता है। 'रंगभूमि' तथा 'समरयात्रा' इसी कोटि की अन्य रचनाएं हैं। जन संघर्ष और आजादी के विषय में प्रेमचंद का मत अत्यन्त स्पष्ट था उन्होंने सन १९३० में डोमीनियन स्टेटस का विरोध और देश के लिए स्वराज्य की मांग करते हुए 'हंस' में लिखा था:—

"इंगलैन्ड का डोमिनीयन स्टेटस के नाम से न घबराना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज का उलझाव है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने बेसमझ तो नहीं कि इंगलैन्ड की इस चाल को समझ कर भी, डोमिनियन के पक्ष में हैं। इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिये तो उसमें राजे-महराजे, हमारे जमींदार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत कुछ दब कर रहना पड़ेगा स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी? क्या यह लोग उस आवाज के भय से घबरा रहे हैं? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है, वह अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेजी शासन से ही हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हें गरीबों को कुचलने और रक्त चूसने

न देगा। डोमिनियन का अर्थ उनके लिए यही है कि दो-चार गवर्नरियां, दो-चार बड़े बड़े पद उन्हें और मिल जायेंगे उनका स्टेटस इसके सिवा और कुछ नहीं है। तालुकेदार और राजे महाराजे इसी तरह गरीबों का खून चूसते चले जायेंगे। स्वराज्य गरीबों की आवाज है, डोमिनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की।.........जिन्हें अंग्रेजों के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते हैं.........वे अपना अपना स्वार्थ देखते हैं। अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य में गरीबों को, मजदूरों को, किसानों को स्थान नहीं है। स्थान है केवल अपने लिए, मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिनरात गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख देखकर तड़प रहा है, वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, जिसमें कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों की त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ता धारियों से भी है।"

इसी आशय की अप्रैल १९३० में प्रकाशित 'हंस' की एक और टिप्पणी पठनीय है। "कुछ लोग स्वराज्य आंदोलन से इस लिए घबड़ा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जायगी और इस भय के कारण या तो दूर से इस संग्राम का तमाशा देख रहे हैं या जिन्हें अपनी प्रभुता ज्यादा प्यारी है वे परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सरकार का साथ देने पर आमादा हैं। इनमें अधिकांश हमारे जमींदार, सरकारी नौकर, बड़े बड़े व्यापारी और रुपये वाले शामिल हैं। उन्हें भय है कि अगर यह आंदोलन सफल हो गया तो जमींदारी छिन जायगी, नौकरी से अलग कर दिये जांयगे, धन जब्त कर लिया जायगा। इसलिए इस आंदोलन को

सिर न उठाने दिया जाय······इसमें सन्देह नहीं है कि स्वराज्य का आंदोलन गरीबों का आन्दोलन है। अंग्रेजी राज्य में गरीबों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है और होती जाती है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं। ··· कांग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें वह अखरन नहीं हो सकती जो एक किसान को हो सकती है। अतएव हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग पीड़ित है। सब छोटे बड़े उसी को नोचते हैं, सब उसी का रक्त और मांस खा-खाकर मोटे होते हैं, पर कोई उसकी खबर नहीं लेता। मजदूरों में संघटन है, सरकारी नौकरों ने भी अपने अपने दल संघटित कर लिये, जमींदारों और महाजनों का दल भी व्यवस्थित है, मगर किसानों का कोई संघ नहीं, गरीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह कठोर सत्य है। इस एक आंदोलन में गरीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है। इस आंदोलन में भी गरीब ही आगे आगे हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज्यादा फायदा उन्हीं को होगा भी, लेकिन····· स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंग को हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनको अवश्य हानि होगी जो खुशामद, लूट, अन्याय के मजे उठा रहे हैं।"

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से प्रेमचन्द की राष्ट्रीयता स्पष्ट रूप से झलकती है। इन उद्धरणों में उन्होंने कितने बल के साथ स्वतंत्रता की मांग की है और स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी गरीबों का कैसा साधुवाद किया है। कर्मभूमि के पात्रों में जनवाद स्थापित करने की जो व्यग्रता और उत्कंठा उपलब्ध होती है वह प्रेमचन्द की अपनी व्यग्रता थी। उनकी दृष्टि में देश के लिए स्वराज्य सबसे बड़ी

आवश्यकता थी और इस स्वराज्य के लिए यदि संघर्ष आवश्यक है तो प्रेमचन्द उसको भी बुरा नहीं समझते। स्वराज्य प्राप्ति के मार्ग में जितने भी रोड़े हों उन सभी को कुचल देना होगा चाहे वह स्वदेशी हों या विदेशी। प्रेमचन्द ने स्पष्ट शब्दों में सिंहनाद किया कि "हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है।" प्रेमचंद का संदेह कितना सत्य था कि "यह दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में मिल जायेंगे और प्रजा को दबाने की, इस आंदोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे।" परंतु अंत में इन दोनों ही सत्ताधारियों को मुँह की खानी पड़ी।

प्रेमचन्द का स्वराज्य से संकुचित राष्ट्रीयता अभिप्राय नहीं था। वे देश देश से विदेशी सत्ता को उखाड़ कर फेंक देने के अनन्तर सामाजिक व्यवस्था में भी आमूल परिवर्तन समुपस्थित करना चाहते थे। 'आहुति' कहानी में रूपमणि के निम्नलिखित वाक्य प्रेमचन्द के कण्ठ से निकले हुए शब्द प्रतीत होते हैं:—

> "अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व बना रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेजी महाजनों की धन लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इस लिए सिर चढ़ायेगी कि वे स्वदेशी हैं? कम से कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठा दिये जांय। मैं समाज में ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ, जहां कम से कम विषमता को आश्रय मिल सके।"

प्रेमचन्द की मृत्यु के लगभग १० वर्ष बाद देश को स्वराज्य मिला पर यह वह स्वराज्य नहीं जिसका स्वप्न प्रेमचन्द देखा करते थे। यह स्वराज्य का अत्यन्त अपदस्थ रूप है। किसान जितना 'जॉन' के शासन काल में पीड़ित था उतना ही आज वह गोबिन्द के जमाने में। देश में अहिंसात्मक क्रांति हो गई परन्तु कोयले की खाने, चाय के बागों और बड़े बड़े कारखानों पर अब भी अंग्रेजों का कब्जा है और इस कब्जे के द्वारा शोषण बराबर कायम है। इतना ही नहीं, इससे बढ़कर आगे देखिए। हमारी अपंग सरकार अंग्रेजी और अमरीकी सरमायदारों से इस देश के उद्योगों में पूँजी लगाने के लिये निवेदन भी कर रही है। प्रेमचन्द इसके विरुद्ध थे। वे भारतेन्दु जी की भांति इस बात से दुखी होते हैं कि भारतवर्ष का धन बराबर बाहर चला जा रहा है। प्रेमचंद साम्राज्यवादी शासकों से कोई भी समझौता नहीं करना चाहते थे। आज गांधीवादी इसी समझौते पर राष्ट्र निर्माण की योजनाएं बना रहे हैं। देखिये बालू की दीवाल कब तक खड़ी रहती है। प्रेमचंद सांस्कृतिक और आर्थिक बरबादी लाने वाली आजादी के पक्षपाती नहीं थे। आज यदि प्रेमचंद जीवित होते तो जॉन की जगह गोविन्द को शोषण करते, चोर बाजारी कराते और भ्रष्टाचार फैलाते देखकर कितने दुखी होते। प्रेमचंद ने कांग्रेसियों के राष्ट्रद्रोह को जनता के समक्ष बार-बार भिन्न-भिन्न तसवीरों में पेश किया। जनता की नैतिकता को गिराने में इन कांग्रेसियों का कितना जबरदस्त हाथ है। इन्हीं (कांग्रेसियों) की राष्ट्रीयता टाटा, बिड़ला और डालमिया की पूंजी पर निर्भर है। पूंजीवाद पर निर्भर रहने वाली राष्ट्रीयता का प्रेमचंद ने घोर विरोध किया है। 'हंस' में उन्हों ने लिखा था:—

"वर्तमान राष्ट्र यूरोप की ईजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप।" 'हंस' नवम्बर १९३६

सन् १६३५ में 'नवयुग' शीर्षक के अंतर्गत 'हंस' में उन्होंने पूँजीवादी राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में लिखा था :—

"इन राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रखा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट नीति चली जाती है, एक दूसरे की आंखों में धूल झोंकी जाती है, निर्बल राष्ट्रों को उभड़ने नहीं दिया जाता है ···· साम्राज्यवाद और व्यवसाय की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में अब कंपन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानव जीवन को कृत्रिम बना दिया था उनकी कलई खुलने लगी है। स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबंदी जिसे राष्ट्र कहा जाता है और जिसने संसार को नरक बना रखा है अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासकों के कठोर और निर्मल हाथों से निकल कर उन लोगों के हाथों में आ रही है जिन्हें राज्य विस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो संतोष प्रद शांति के उपासक होंगे।"

प्रेमचंद का सम्पूर्ण साहित्य देश प्रेम की भावना में अनुरंजित है। उनका एक एक अक्षर इस बात का द्योतक है कि उनके हृदय में देश के लिए कितनी ममता, कितना प्रेम और अपनत्व था। उनका एक एक अक्षर बोल रहा है कि जिन हाथों ने उन्हें लिखा है, वे कितने प्यार से अपने देश की, अपने गांव की मिट्टी को छूते थे, कितनी ममता और कितने दुलार से वे अपने देश के फूलों और पत्तियों और उनके रंगों को छूते थे। प्रेमचंद का किसान हिंदुस्तान का ही किसान है। प्रेमचंद की नारी हिंदुस्तान

की ही नारी है। उनका एक-एक पात्र अपने रचयिता ही की तरह वेश भूषा में, रहन सहन में, लबो-लहजे में हर चीज में सोलहो आने भारतीय है, जिसे अपने भारत की हर चीज प्यारी है। मानसिक पराधीनता, शीर्षक टिप्पणी में कास्मोपालिटनिज्म की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था :

"हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं पर मानसिक पराधीनता में अपने आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है ? उसकी भाषा उसकी सभ्यता, उसके विचार उसका कलचर। ...कलचर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक, हमारी सामाजिक रूढ़ियां, हमारे राजनैतिक सिद्धांत, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन सहन, हमारे आचार-व्यवहार सब हमारे कलचर के अंग हैं, पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कलचर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिम वालों को शक्तिशाली देख कर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि हम में सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं और उनमें सिर से पांव तक गुण ही गुण। इस अंध भक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा ही को ले लीज़िये। आज अंग्रेजी हमारे सभ्य समाज की व्यवहारिक भाषा बनी हुई है.... हम मानते हैं कि अंग्रेजी भाषा प्रौढ़ है, हरेक प्रकार के भावों को आसानी से जाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आयी, लेकिन जब वही लोग जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य पर आप

भारतीय राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी करेंगे। यह हिमाकत है। आज हमारा पठित-समाज साधारण जनता से पृथक हो गया है। उसकी रहन सहन, उसकी बोल चाल, उसकी वेश भूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रहे हैं।...... भाषा को छोड़िये, वेश भूषा पर आइये। आप उन साहब, साहब बहादुर को देख रहे हैं जो हैट-कोट लगा के, गरूर से इधर उधर देखते चले जा रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी यूरोपियन हैं ···· मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नजर आते हैं जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं जैसे कोई वेश्या अपने हाव भाव......।"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रेमचंद जीवन के प्रत्येक पक्ष को देश प्रेम से पूर्ण देखना चाहते थे। क्या रहन सहन क्या बोल चाल क्या वेष भूषा और क्या भाषा सभी क्षेत्रों में उन्हें भारतीयता का गर्व था। निश्चय ही प्रेमचन्द की रग रग में देश प्रेम की भावना लहरें ले रही थी।

प्रेमचन्द के विचार

प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा उसके विचारों में प्रतिबिम्बित होती है। मानव सदैव अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए व्यग्र रहता है, चाहे वह मौखिक रूप में हो या लिखित रूप में। साहित्यकार का तो यह ध्येय ही रहता है कि वह भाषा के माध्यम से अपने विचारों से अन्य व्यक्तियों को अवगत करावे और जनता को उसके अनुभव से लाभ हो। साहित्यकार अपने अनुभव एवं चिन्तन को लेखनी की सहायता और हृदय की प्रेरणा से सदैव अभिव्यक्त कर देता है। किसी भी व्यक्ति के विचारों को स्थायी महत्व तभी होता है, जब उसमें अनुभव एवं चिन्तन की गंभीरता हो। मानव जीवन के प्रवर्तक विचार ही होते हैं। साहित्य के अन्तर्गत प्रवाहित जितनी भी प्रवृत्तियां होती हैं, उन को प्रेरित करने की महान शक्ति है विचार। साहित्यकार के विचारों का विश्लेषण कर लेना उसकी मानसिक प्रौढ़ता का इतिहास तैयार कर लेना है। साहित्यकार की वाणी जीवन के सभी क्षेत्रों, भावनाओं एवं पहलुओं को जीवन प्रदान करती है। इसी लिए उसके साहित्य को समझने के लिए उसकी विचारधारा को समझ लेना परमावश्यक है। कारण कि यही उसके साहित्य की नींव है। किसी भी दिवंगत साहित्यकार के लिए सबसे बड़ी श्रद्धांजलि उसके विचारों का प्रचार एवं उसके उन सिद्धान्तों का प्रचार है जिनके लिए वह जिया और मरा अथवा जिसके लिए उसने अपनी जीवन ज्योति जलाकर साधना की। मैं समझता हूँ कि प्रेमचन्द की वार्षिकी के इस दिन[1] उस साहित्यकार के विचारों का

---

१. प्रस्तुत लेख ८ अक्टूबर १९५० को प्रेमचन्द दिवस के लिए लिखा गया था।

प्रचार सबसे अधिक आवश्यक है। प्रेमचन्द ने जिन आदर्शों को अपने साहित्य द्वारा जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया था, उनको पुनः दोहराना उनके लक्ष्य को पूर्ण करना है।

प्रेमचन्द के विचार उनके उपन्यास, कहानी, लेख और भाषणों में बिखरे पड़े हैं, उनकी विचारधारा उनके पूरे साहित्य में लहरें ले रही है। विचार दो प्रकार के होते हैं, प्रथम वे जिन का स्थायी महत्व होता है और दूसरे वे होते हैं जिनको हम सामयिक कहते हैं, इनकी रचना विशेष समय के लिए होती है। प्रेमचन्द के साहित्य विषयक विचार तो सामयिक उपयोगिता से परे की चीज़ है। हाँ भाषा विषयक लेख या विचार अवश्य ही परिवर्तन के एक युग से निकल चुके हैं अतएव उनकी उपयोगिता आज उतनी नहीं है जितनी उनके रचनाकाल में थी। 'साहित्य का उद्देश्य' तथा 'जीवन में साहित्य का स्थान' आदि तो ऐसे विषय हैं जो आज भी उतने ही नये और उपयोगी हैं जितना सन् ३३, या ३४ में थे, जबकि इनकी रचना हुई थी।

साहित्य की विद्वानों ने विभिन्न परिभाषायें की हैं। किसी ने उसे "ज्ञानराशि का संचित कोष" कहा है, तो दूसरों ने "उदात्त भावों की अभिव्यंजना"। भिन्न वर्गों के लेखकों ने साहित्य को अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। प्रेमचंद ने साहित्य की बड़ी सरल एवं संक्षिप्त परिभाषा दी है। उनके शब्दों में "साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गई हैं, पर मेरे विचार में उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है।.........साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियां व्यक्त की गई

हों।" साहित्य के आवश्यक तत्व के विषय में प्रेमचंद का कथन पठनीय है। जिस साहित्य से हमारी रुचि न जागे आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं है। और साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि "वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे, उसकी सूझ, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।"

प्रेमचंद ने कला का मूल्यांकन उपयोगिता की दृष्टिकोण से किया। उनका कथन था कि "मुझे कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूं। निस्संदेह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द की कुंजी है, पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।"

कला के विस्तृत क्षेत्र में सौन्दर्य की कसौटी के विषय में प्रेमचंद जी ने कहा था कि "हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कहानी पर उसका अस्तित्व अवलंबित था, और उन्हीं के सुख दुख, आशा निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलों की ओर उठती थी, झोंपड़े और खंडहर उसके

ध्यान के अधिकारी नहीं थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि से बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता भी था तो उनका मजाक उड़ाने के लिए ...... वह भी मनुष्य है, उसके भी हृदय है और उसमें भी अकांक्षाएँ हैं, यह कला की कल्पना के बाहर की बात है। कला के प्रति यह भाव इसी देश में नहीं अन्य देशों में भी चिरकाल से प्रचलित है। प्राचीन यूनानी नाटककारों ने सुखान्त का विषय समाज का निम्नवर्ग चुना है। उच्च वर्ग को उन्होंने सुखान्त का विषयाधार नहीं बनाया। निम्न-कोटि के समाज को सुखान्त का विषय निर्धारित करने में यूनानी साहित्यकारों की उच्चवर्ग के प्रति पक्षपात की भावना स्पष्ट रूप से झलकती है। कालान्तर में यह बुर्जुआ वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना में परिवर्तित हुआ।"

साहित्यकार पर बड़ा उत्तरदायित्व होता है। वह ज्ञान की मशाल लेकर अंधकार के गर्त की ओर अग्रसर जनता को प्रकाश दिखाने के लिए आगे चलता है, आने वाली पीढ़ी के लिए वह अपने युग की प्रवृत्तियों और सन्देश को साहित्य के अंतर्गत चित्रित करता है। वह एक सहृदय व्यक्ति है जो अपने समय के शोषितों, उत्पीड़ितों और सतत संघर्ष में रत जनता को जाग्रत करके सभी प्रकार के दोषों से समाज को उन्मुक्त रखना चाहता है। प्रेमचन्द ने भी इसी विचार पर जोर दिया है। उनके शब्दों में "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना नीचा न गिराइये। वह देश और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।" साहित्यकार की प्रतिभा जन हिताय विकसित होती है। आचार्य मम्मट ने साहित्य रचना के लिये निम्नलिखित लक्ष्य बताये हैं।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेत रक्षतये।
सद्यः पर निवृतये कांतासामित तयोपदेश युजे॥

अर्थात् यश की प्राप्ति, संपत्तिलाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, रोगादि विपत्तियों का विनाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव, प्रिय स्त्री के समान मनभावन उपदेश के लिए होती है। आज इन आदर्शों को छोड़कर साहित्यकार को समाज, व्यक्ति और देश का सर्व-प्रथम ध्यान रखना चाहिए। आज क्या, किसी भी युग के कवि या साहित्यकार को जनता का ध्यान विसारकर 'स्वान्तः सुखाय' काव्य या साहित्य के अन्य अंगों की रचना नहीं करनी चाहिए। साहित्यकार एक सघन बादल की भांति 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' अपने भावों की वृष्टि करके संघर्ष एवं शोषण से संतप्त जनता को शैतल्य प्रदान करता है। आज के इस युग में जब जन-रक्षक जन-भक्षक बन गये हैं, जन-जाग्रति को सरकार के विरुद्ध षड़यंत्र समझा जा रहा है, विज्ञान की संहारक शक्ति द्रुत-गति से बढ़ती जा रही है, साहित्यकार का कर्तव्य और भी विस्तृत होता जा रहा है। इस युग में उसे जनता को ही साहित्य का लक्ष्य बनाना अपेक्षित है। प्रेमचन्द के शब्दों में "उस मानसिक पूंजीपति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लाभ को अपने निज लाभ से अधिक ध्यान देने के योग्य समझे, अपनी विद्या और योग्यता से समाज को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाने की कोशिश करे……जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थ-मय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता और उसे अपनी मनः तुष्टि के लिये दिखावे की आवश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है। साहित्यकार को कर्मठ होना चाहिए। उसका आलस्य और उनकी अकर्मण्यता न केवल उसी के लिए वरन् समस्त राष्ट्र के लिए हानिकारक और घातक होगी।" प्रेमचन्द

के शब्दों में, "हमारे साहित्यकारों में कर्म शक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है पर हम उसकी ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते। अभी तक हमने जिस साहित्य का आदर्श अपने सामने रखा था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं थी। कर्माभाव ही उसका गुण था, क्यों कि अक्सर कर्म अपने साथ पक्षपात और संकीर्णता को भी लाता है।.........
जो हो जब तक साहित्यकार का काम केवल मन बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियां गा गा कर सुलाना, केवल आंसू बहाकर हल्का करना था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं क्यों कि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के रीति काल में कवियों ने जैसा दिवालियापन दिखाया है वैसा हिन्दी के किसी भी समय में नहीं हुआ। रीति कालीन कवियों का काव्य आज हमारे लिए किस लाभ का है। वह केवल पुस्तकालयों की अलमारियों का साहित्य है अथवा रंगीनियों का स्वप्न देखने वाले कतिपय रसिक हृदयों के लिए वह उपयोगी सिद्ध हो सकता है। देव, मतिराम बिहारी, पद्माकर आदि का काव्य आज के जीवन में कौन सी प्रेरणा दे सकता है अथवा उसके द्वारा किस समाज में जाग्रति उत्पन्न हो सकती है। उससे वर्ग संघर्ष में रत समाज को क्या मनः तुष्टि प्राप्त हो सकती है अथवा रीतिकाल का वह साहित्य किस संदेश का प्रसार और अभिव्यक्ति करता है? रीतिकाल के

साहित्यकार अपने अन्नदाताओं और आश्रयदाताओं की चाटुकारिता में उनके मन बहलाव का सामान इकट्ठा करते रहे हैं। उसमें कर्मठता का अभाव है। उन कवियों ने श्रीमानों के लिए नारी की पवित्रता को नष्ट भ्रष्ट कर नायिका भेद के रूप में उसके नग्न चित्रों को व्यक्त करने में अपने कौशल, अपनी प्रतिभा और अपने ज्ञान को खपा दिया है। नायिका भेद और नारी के नग्न रूप को देखने में जितना उनका मन लगा है और ध्यान गया है उतना किसी भी अन्य विषय में नहीं। इन्होंने जिस नारी से अपना मन लगाया है, वह है रूपगर्विता, गौरवर्ण, छुईमुई सी लजीली और उसी के पास में बैठी उस नारी की ओर उन्होंने देखा भी नहीं, (या देखकर शायद दृष्टि भी घुमा ली हो) जो गरीब रूपरहित है और जो अपने फूल से कोमल नन्हें बच्चों को खेत की मेंड़ पर सूखे पेड़ की धूपभरी छांह में सुलाये हुए, तपती हुई दोपहरी में पसीने बहा रही है और फिर भी वह अपना पेट नहीं भर पाती। इसका कारण यह है कि रीतिकालीन उस कवि ने यह निश्चय कर लिया है कि रंगे होठों, कपोलों और भौंहों में निस्संदेह सुंदरता का वास है, उसके लिये उलझे हुये बालों, पपड़ियां पड़े हुए होंठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहां है? "यह अत्यन्त संकीर्ण दृष्टिकोण है। फिर भला जनता को उससे क्या लाभ और क्या उपयोगिता। रीति कालीन कला यौवन और रूप के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या उसके रूप गर्व और चोचलों पर सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है, आदर्शवाद का; हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा का, आत्मत्याग का और यह अवस्था

उस समय पैदा होगी जब हमारा सौन्दर्य व्यापक हो जायगा, जब सारी सृष्टि उसकी परिधि में आ जायगी। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगी, उसकी उड़ान के लिए केवल बाग की चारदीवारी न होगी, किन्तु वह वायु मंडल होगा जो सारे भूमंडल को घेरे हुए है।"

कला में यथार्थ का क्या स्थान और महत्व है, इसके विषय में प्रेमचन्द जी के विचार पठनीय हैं। उनका मत है कि "अगर हम यथार्थ को हू-बहू खींचकर रख लें तो उसमें कला कहाँ है? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ हो। उसका मापदंड भी जीवन के मापदंड से अलग है...... कला का रहस्य भ्रांति है जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।"

प्रचार के लिए विरचित साहित्य लक्ष्यपतित अथवा अधम साहित्य है। प्रचार के हेतु लिखित साहित्य में समस्त मानव जाति का लाभ नहीं होता बरन केवल सीमित विचारवान वर्ग का लाभ होता है। प्रेमचन्द के शब्दों में "जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।" लेकिन आज कल परिस्थितियां इतनी तीव्रगति से बदल रहीं हैं, इतने नये नये विचार पैदा हो रहे हैं कि बर्णापत अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आंदोलित न हो।

युग के साथ उस युग की विचार धारा, चिन्तन पद्धति साहित्यिक प्रवृत्तियां और सामाजिक मान्यतायें सभी परिवर्तित हो जाती

हैं और उन परिवर्तन के पश्चात एक नई व्यवस्था प्रत्येक दिशा में अपना स्थान ग्रहण करती है। कुछ समय पूर्व हमारे कलाकार 'कला के लिए ही कला' सिद्धांत के समर्थक थे। पर आज वह समय नहीं है। आज हमारा साहित्यकार प्राचीन साहित्यिकों का पिष्ट पेषण नहीं कर सकता है। कारण, कि आज उस समय की अपेक्षा इस देश की साहित्यिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक विचारधाराओं में महान क्रांति समुपस्थित हो गई है। इसलिए प्रेमचंद जी कहते हैं कि "कला के लिए कला का समय वह होता जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ?" वास्तव में जब देश की दुर्दशा की सीमा यहां तक पहुँच जाय कि सड़कों पर भुखमरी के कारण लाशों के ढेर लग जायें, मानवता का क्रय-विक्रय और मूल्यांकन कुछ चांदी के टुकड़ों से होने लगे, भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया हो उस समय "कला के लिए कला" कहना कला का दुरुपयोग और उसे अपमानित करना है। कला की सबसे बड़ी सार्थकता मानव समाज का पथ प्रदर्शन करना, उसे तम से ज्योति की ओर अग्रसर कराना है। यही प्रेमचंद जी का विचार था। वे "साहित्यिक जागृति को किसी भी समाज की सजीवता का लक्षण" मानते थे। वे कहते थे कि "साहित्य बदगुमानियों को मिटाने वाली चीज है अगर आज हम हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के साहित्य से ज्यादा परिचित हों, तो मुमकिन है हम अपने को एक दूसरे के कहीं ज्यादा निकट आ पायें। साहित्य में हम हिंदू नहीं हैं, मुसलमान नहीं हैं, ईसाई नहीं हैं बल्कि मनुष्य हैं और वही मनुष्यता हमें और आपको आकर्षित करती

है ···· साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है इसमें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है।" इसीलिए आज साहित्य के प्रचार की सबसे अधिक आवश्यकता है। आज मानवता का अधःपतन हो गया है, आदमी की मानव सुलभ विशेषतायें नष्ट हो चुकी हैं। इस समय हमें ऐसे साहित्य और कला की आवश्यकता है जो जीवन की तहों के अंदर घुस कर उन दोषों को दूर करे जो कीड़ों की भांति हमारे समाज को खोखला किये डाल रहे हैं।

साहित्य का जीवन से बड़ा घनिष्ट लगाव है। जिस साहित्य में जीवन का चित्रण और आलोचना, अभिव्यक्त न हो उस साहित्य की क्या उपयोगिता हो सकती है। जीवन की नींव पर ही साहित्य की दीवार खड़ी होती है, "उसकी अटारियां, मीनार और गुम्बद बनते हैं, लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसीलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसीलिए सुबोध, सुगम और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है।··· जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है ···· किसी को वह रत्न-द्रव्य में मिलता है, किसी को ऐश्वर्य में ··· लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा और पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनन्द सुन्दर और सत्य से मिलता है उसी आनन्द को दर्साना वही आनन्द उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। साहित्य तो हर एक रस में सुन्दर खोजता है, राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नाले के अन्दर, उषा की लाली में, सावन-भादों की अंधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की

झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर, मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किल से मिलता है। जहां मनुष्य अपने भौतिक, यथार्थ, अकृत्रिम रूप में है वहीं आनन्द है। आनन्द कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार से है। एक जिज्ञासा का सम्बन्ध है, दूसरा प्रयोजन का सम्बन्ध, और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का सम्बन्ध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का सम्बन्ध बिज्ञान का विषय और साहित्य का विषय केवल आनन्द का सम्बन्ध है। सत्य जहां आनन्द का स्रोत बनता है वहीं साहित्य हो जाता है।"

जीवन में साहित्य की क्या उपयोगिता है इसके बिषय में प्रेमचंद जी कहते हैं "जीवन में साहित्य की उपयोगिता के बिषय में कभी कभी संदेह किया जाता है। कहा जाता है कि जो स्वभाव से अच्छे हैं वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव से बुरे हैं वह बुरे ही रहेंगे चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव चरित्र को बदल देना होगा।......मनुष्य सुभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल प्रपंच, या परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है, उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पंदित करके, उनके कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके।" तथ्य तो यह है कि हमारी सभ्यता और जीवन का आधार ही साहित्य है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। आज हमारी सभ्यता, हमारा गौरव, हमारी उन्नति, हमारा अस्तित्व सबको उठाने वाला, बनाने वाला, कौन है, यही साहित्य।

जब साहित्य का इतना बड़ा महत्व है तो उसके सृजक साहित्यकार का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है, उसे बहुत सोच समझकर अपने भावों को अक्षरों का रूप प्रदान करना चाहिए। साहित्यकार के लिए अनुभव, चिन्तन, विवेचन और गाम्भीर्य अपेक्षित है। उसे धुन में आकर अन्धाधुन्ध लेखनी नहीं चलाना चाहिए। इसीलिए प्रेमचन्द जी ने कहा कि "ऐसा महान दायित्व जिस वस्तु पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ में लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आ जाती है। साधारणतः युवावस्था में हमारी निगाह पहले विध्वंस करने की ओर उठती है। हम सुधार करने की धुन में अंधाधुंध शर चलाना शुरू कर देते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरन्त आंखें काले धब्बों की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थ के प्रवाह में बहने लगते हैं। यह सत्य है कि पुराने ढकोसलों और बन्धनों को तोड़ने की जरूरत है। पर इसे साहित्य नहीं कह सकते हैं। हम साहित्य की मर्यादाओं का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा साहित्य का एक अंग ही है। पर स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है जो युवक साहित्य को जीवन का दर्पण बनाना चाहते हैं उन्हें आत्म संयम की आवश्यकता है।"

प्रस्तुत लेख के विगत पृष्ठ इस बात के पोषक हैं कि प्रेमचन्द साहित्य के क्षेत्र में जनवादी थे। हृदय के जिस श्रोत से प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों की धारायें फूट निकली थीं वहाँ भी जनवादी विचार वर्तमान हैं। साहित्य और जीवन दोनों ही दृष्टिकोणों से वे जनवादी थे। उन्होंने देश की बहुमत जनता मध्य और निम्न, कोटि को बड़े निकट और बड़े ध्यान से देखा और

समझा था। उनकी समस्याओं का उन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति परीक्षण किया, उनका विश्लेषण किया। धीरे धीरे मध्य वर्ग की स्थिति और भी बिगड़ती गई, निम्नवर्गीय समस्यायें पहले से ही अत्यन्त हीन थीं। मध्यवर्ग की समस्यायें और निम्न वर्ग की समस्याओं में कालान्तर में कोई भेद न रह गया और इस तरह से अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में दोनों की समस्याओं को एक साथ एक रूप में व्यक्त किया। देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक समस्याओं का उन्होंने जनता की उपयोगिता की दृष्टि से मूल्यांकन किया। वे जनता के लाभ के साथी थे। जो प्रवृत्ति जनता के लिए हानिकारक है, वह चाहे जैसी भी हो देश के अधिकांश भाग के लिए प्रयोजन हीन है। जो भी हो वे जनता के साथ साथ चलनेवाले थे और उनकी लेखनी उनसे कभी भी पीछे न रही। उन्होंने अपनी लेखनी से जनता के कृषक, मजदूर मेहनतकश, शोषित, और दमनचक्र में कुचले हुए सभी समाजों का चित्रण किया। उनके द्वारा खींचे हुए चित्रों का आधार अनुभव है इसीलिए सत्य उनके साथ है देश का इतिहास उनके साथ है। प्रेमचंद के साहित्य को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वे उत्तरोत्तर समाजवाद की ओर बढ़ते जा रहे थे। प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में जनता की सभी समस्याओं का सुलझाव जनवादी सिद्धान्तों में खोजा। प्रेमचंद अपने अपूर्ण और अन्तिम उपन्यास में समाजवाद के निकट देख पड़ते हैं। इसका पहला इंगित गोदान में है, होरी के चरित्र में। यही बात प्रेमचंद ने और भी विस्तार के साथ और वैचारिक गुत्थी को सुलझाने के रूप में 'मंगलसूत्र' में कही है… 'मंगलसूत्र' से एक उद्धरण आगे दिया जाता है।

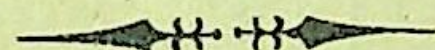
"पं० देवकुमार को धमकियों से झुकाना असम्भव था, मगर तर्क के सामने उनकी गर्दन आप ही आप झुक जाती थी। इन दिनों वह यही पहेली सोचते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है? कर्म और संस्कार का आश्रय लेकर वह कहीं न पहुंच पाते। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्मा है, तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करने पर भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ पांव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है? यह सर्वात्मा है या घोर अनात्मा! बुद्धि जवाब देती है: यहां सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती है, सबको समान अवसर कहां है? बाजार लगा हुआ है। जो चाहे वहां से अपनी इच्छा का सामान खरीद सकता है। मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसा है। और जब उसके पास पैसे नहीं हैं तो सबको बराबर का अधिकार कैसे माना जाय? इस तरह का आत्म मंथन उनके जीवन में न हुआ था। उनकी साहित्यिक बुद्धि ऐसी व्यवस्था से सन्तुष्ट तो हो ही न सकती थी, पास उनके सामने ऐसी कोई गुत्थी न पड़ी थी, जो इस प्रश्न के वैयक्तित्व को अन्त तक ले जाती......
कहां है न्याय? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोंच कर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं अपना लम्बा लम्बा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंग-

रंगरेलियां मनाते हैं, यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ?

हां देवता हमेशा रहे हैं और रहेंगे। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है……लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो, स्वार्थी कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर यह जानकर अनजान बनता है, तो धर्म से गिरता है, अगर उसकी आंखों में कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अन्धा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं। और यहां देवता बनने की जरूरत नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर द्वारा भक्ति की मिथ्यायें फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने कब का इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनाना पड़ेगा। दरिद्रों के बीच में उन से लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजो का शिकार बनना देवता पन नहीं है, जड़ता है। आज जो इतने ताल्लुकेदार और राजे हैं वह अपने पूर्वजों की लूट का ही आनन्द तो उठा रहे हैं।”

प्रेमचन्द की उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़ जाने के पश्चात् उनके विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता है।…………उन्होंने हिन्दी कहानी साहित्य में एक परम्परा स्थापित की। यह परम्परा थी सर्वोदय, चतुर्दिक उन्नति की, सामाजिक व्यक्तित्व निर्माण की, सामुहिक एवं सामाजिक चेतना की, शोषित एवं कुचले वर्ग के उद्बोधन की। उन्होंने हमारे सीमित दृष्टिकोण में परिवर्तन करने का प्रयन्त किया। उन्होंने इस सामाजिक

व्यक्तिगत हित के बीच में विकासमान विरोधी तत्वों को समझा और जिस मौलिक सामाजिक ऐक्य के आधार पर मानव जीवन इस भयंकर वर्ग विभाजन के होने पर भी टिका है उस मूलगत सामाजिक तत्व को पहचाना। सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रेमचन्द ने इस सामुहिक और सामाजिक चेतना को केवल बुद्धि से ही स्वीकार नहीं किया था। वह उनकी व्यक्तिगत चेतना का अंश बन चुकी थी। प्रेमचन्द का साहित्य एक वाक्य में सामाजिक एवं वर्ग संघर्ष का साहित्य है।



प्रेमचन्द गांधीवाद से जनवाद तक

यह बात सभी लोग जानते हैं कि प्रेमचन्द हिन्दी-उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कहानी उपन्यासकार थे। परम्परा से कहानी और उपन्यास की जो धारा प्रवाहित चली आ रही थी उसमें उन्होंने एक नवीन परिवर्तन उपस्थित किया। प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी-उर्दू का कथा साहित्य अपनी शैशवावस्था में था परन्तु प्रेमचन्द ने अपनी लेखनी से दोनों को प्रौढ़ता प्रदान की। कथा साहित्य में जो गौरव और महत्ता प्रेमचन्द को प्राप्त है। वह किसी भी अन्य लेखक को नहीं मिल सकी।

प्रेमचन्द के विषय में हमारे साहित्यिकों के दो भिन्न भिन्न दृष्टिकोण हैं। प्रथम वर्ग का विचार है कि प्रेमचंद यथार्थवादी प्रगतिशील कलाकार थे और उनके साहित्य में कहीं ठहराव नहीं है। वे प्रत्येक कदम पर प्रगतिशील हैं और द्वितीय वर्ग का यह विचार है कि वे सुधारवादी थे। (राजनैतिक क्षेत्र में गांधी जी ने जिन सिद्धांतों और कार्यक्रम को प्रस्तुत किया था उन्हीं की अभिव्यंजना उपन्यासों के माध्यम से प्रेमचंद ने साहित्य में की थी, अर्थात् गांधीवाद ही उनके इस प्रचुर साहित्य का मूलाधार है।) प्रेमचंद के बड़प्पन तथा महत्ता का कारण यह है कि उनके साहित्य में गांधी जी के आदर्श, और सिद्धान्त लहरें ले रहे हैं। इसी कारण हमारे हिन्दी के कुछ आलोचकों ने प्रेमचन्द को हिन्दी साहित्य का गांधी भी कहा है। इस विचारधारा के पोषक आलोचकों के अनुसार गांधी जी सुधारवादी थे अतः इसी कारण वे प्रेमचन्द को भी बहुत ही सीमित अर्थ में प्रगतिशील मान लेते हैं।



इसलिए प्रेमचंद का व्यक्तित्व विवादास्पद है। हमें देखना यह है कि उनके साहित्य से उनके व्यक्तित्व पर क्या प्रकाश पड़ता है।

प्रेमचंद और गांधी समकालीन थे। इसी देश में गांधी का जन्म सन् १८६६ ई० में हुआ और प्रेमचंद का सन् १८८० में। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गांधी जी ने अपना राजनैतिक जीवन प्रारम्भ कर दिया था और प्रेमचंद ने अपना साहित्यिक जीवन। इसमें संदेह नहीं है कि दोनों का जन्म भारतवर्ष की मिट्टी से हुआ और लगभग एक ही दशक में और वे दोनों ही सुधारवादी थे पर दोनों का पालन पोषण भिन्न भिन्न वातावरण, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में हुआ अतः दोनों की विचारधारा में भेद था। दोनों के कार्यक्रम में अंतर था। अतः दोनों के सुधारवाद का आधार भी भिन्न था।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रेमचंद ने लिखना प्रारम्भ किया। उनका प्रथम उपन्यास सेवासदन १६०५ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह एशिया के जागरण का समय था। सन १६०५ में एशिया की एक छोटी शक्ति जापान ने योरप की एक महान शक्ति ज़ार रूस को पराजित किया। इसी समय रूस में एक महान क्रांति हुई जो असफल (नाकामयाब) रहते हुए भी संसार को हिला देने में सफल हुई। भारतवर्ष में भी इस समय जागरण की लहर दौड़ रही थी। इसी समय राष्ट्रीय आजादी में बहुत बड़ा उभार आया। प्रेमचंद देश की इन परिस्थितियों से अछूत न रह सके। उनमें जहां एक साहित्यिक प्रवृत्ति (रुझान) थी वहां दूसरी ओर उनमें राजनैतिक जागृति भी थी। प्रेमचंद ने स्वतंत्रता के इस आंदोलन से प्रेरित होकर "शोज़वतन" कहानियों की रचना की। इस समय वे सरकारी नौकर थे। कहानियों के प्रकाशित होते ही



उन पर बिपत्तियां टूटने लगी। अंग्रेजी सरकार ने उसे जब्त कर लिया। इस घटना ने प्रेमचंद के हृदय में उस सरकार के प्रति विद्रोह के बीज बो दिए। उन्हें आभास मिल गया कि साहित्य (अदब) जन जागरण का सुदृढ़ साधन बन सकता है। आजादी के आंदोलन के साथ शिक्षित वर्ग समाज सुधार और सामाजिक पुनुरुत्थान की आवश्यकता का अनुभव कर रहा था। इसी समय आर्य समाज आंदोलन भी चल रहा था। इस आंदोलन ने जहां एक ओर वेदों की ओर हिंदू जनता का ध्यान आकर्षित किया वहां दूसरी ओर आधुनिक जीवन के ठहराव में बड़ी भारी क्रांति का समावेश किया। प्रेमचंद ने इस से प्रभावित होकर 'सेवासदन' 'बाजार हुस्न' और 'बेवा' की रचना की। इसके पहले उन्होंने "जलवे ईसार" की रचना की थी जिसमें राजनैतिक-सामाजिक दोनों ही तत्व मौजूद है। इसका नायक प्रेमचंद की मौलिकता और प्रतिभा का फल है देश के वातावरण की उपज नहीं है। इसी समय महादेव गोविन्द रानाडे भी समाज सुधार में प्रवृत्त थे।

राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व बालगंगाधर तिलक, लाजपत राय, गोपाल कृष्ण गोखले, विपिन चन्द्रपाल, रमेशाचन्द्र दत्त और महात्मा गांधी के हाथों में रहा। इनमें कुछ नीति के दृष्टिकोण से उग्र थे, कुछ लिबरल, पर सभी का लक्ष्य अंग्रेजों को देश से बाहर निकाल देना था, १९१४ के योरोपीय महायुद्ध के साथ ही भारतवर्ष में स्वतंत्रता का आंदोलन और तीव्र हो गया। इसी आंदोलन का प्रभाव प्रेमचंद के प्रेमाश्रम उपन्यास में परिलक्षित होता है। प्रेमाश्रम की रचना के दो वर्ष बाद १९२७ ई० में रंगभूमि का प्रकाशन हुआ। इस उपन्यास में भी सत्याग्रह आंदोलन से लेखक प्रभावित प्रतीत होता है, १९३१ ई० में 'कर्मभूमि' का प्रकाशन हुआ। इस समय तक प्रेमचंद गांधी के बराबर समझौता करने और बराबर आंदोलन चलाकर जनता का बलिदान करने के

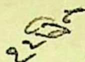
कुछ विरुद्ध हो गए थे । १६३१ के पश्चात फिर किसी अन्य उपन्यास या कहानी में प्रेमचंद गांधी के किसी सिद्धांत के निकट नहीं आए। इसके पूर्व भी उनके उपन्यासों और कहानियों में अन्य ऐसे सिद्धांतों और तत्वों का चित्रण हुआ है जो जनवादी सिद्धान्तों के निकट हैं और जिनसे गांधीवाद का तीव्र भेद है। इस प्रकार १६३० तक उनकी रचनाओं में गांधीवादी और जनवादी भावनाओं का मिला जुला चित्रण मिला है। प्रस्तुत परिच्छेद में हम अब इसी दृष्टिकोण से निम्नलिखित शीर्षकों में प्रेमचन्द का अध्ययन करेंगे:—

१ समस्याएं
२ उत्पादन के साधन और जनता का अधिकार
३ धर्म और भाग्यवाद
४ संगठन
५ समझौता प्रियता का विरोध
६ पात्रों की विद्रोहात्मक प्रकृति
७ स्वत्व के हेतु हथियार धारण
८ प्रेमचन्द और देश प्रेम
९ प्रेमचन्द और कम्यूनिज्म
१० प्रेमचन्द का सन्देश
११ निष्कर्ष

१

प्रेमचन्द के उपन्यासों की समस्याएं आर्तमानवता (प्रोलेटेरियन) की समस्याएं हैं। हिन्दी के कथाकारों में प्रेमचन्द सर्व श्रेष्ठ और सर्वाधिक मानवतावादी कलाकार हैं। उनका दयार्द्र हृदय मानवता के किसी भी अंग, किसी भी वर्ग को देखकर द्रवीभूत हो जाता था। अतः प्रेमचन्द के उपन्यासों की समस्याएँ मध्यवर्ग एवं निम्नवर्गीय जीवन की दुःख गाथाएं हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द ने १६०५ ई० में उपन्यास लेखन का श्रीगणेश किया था। १६०५ से १६३०ई० तक लिखित

इन उपन्यासों में कर्मभूमि, गोदान एवं मंगलसूत्र को छोड़कर सभी आ जाते हैं। उपर्युक्त २५ वर्षों में लिखित उपन्यासों में प्रेमचन्द निश्चय ही गांधी-दर्शन से प्रभावित थे। प्रेमाश्रम एवं रंगभूमि की समस्याएँ सविनय अवज्ञा, अहिंसात्मक सत्याग्रह, ग्रामीण उद्योग, किसानों की दुरवस्था, जमींदारों और पूंजीपतियों के अत्याचार अधिकारियों की स्वार्थान्धता, राष्ट्रीय चेतना, हिन्दू मुसलिम ऐक्य आदि हैं। इन दोनों उपन्यासों में गांधी से प्रभावित एवं गांधी के प्रतीक के रूप में कई एक पात्रों का चित्रण हुआ है। सूरदास के मुख से निकले हुए वाक्यों में गांधी की विचार धारा लहर ले रही है। परन्तु १९३० ई० के पश्चात लिखित प्रेमचन्द के उपन्यासों (कर्मभूमि, गोदान एवं मंगलसूत्र) की समस्याएं आर्त-मानवता की समस्याएं होते हुए भी पूर्व से भिन्न हैं। इन उपन्यासों की समस्या है महाजनों का शोषण, दलित मजदूरों की दशा, किसानों की दुर्दशा, शिक्षा संस्थाओं की अर्थ व्यवसायी नीति, जन शिक्षण के प्रति सरकार की उदासीनता, मद्यनिषेध, पूंजीपति मठाधीश महन्तों की विलासप्रियता, धर्म के नाम पर जन शोषण, राज्य कर्मचारियों का नैतिक पतन, असमान वितरण, असमान अधिकार और आर्थिक वैषम्य के आधार पर संगठित समाज जनित विषमताएं आदि। इन उपन्यासों में कर्मभूमि पर गांधी इरविन समझौते का कुछ प्रभाव उपलब्ध होता है, परन्तु गांधी के इन सत्याग्रह आंदोलनों के प्रति प्रेमचन्द की आस्था १९३१ तक विचलित हो चुकी थी। बार बार के इन समझौतों को प्रेमचन्द निःसार ही नहीं देश के लिए घातक भी समझते थे। उनकी दृष्टि में इनसे विशेष नेताओं और राजनीतिक दलों को चाहे जो भी लाभ हो रहा हो पर जनता तो निरंतर उजड़ती जा रही है। उसके शोषण में कोई कमी नहीं हो रही थी। कर्मभूमि के अंत में सेठ जी के स्वर में स्वर मिलाकर प्रेमचंद कहते हैं कि इन आंदोलनों



को चलाकर और समझौतों को बिना सोचे समझे करके...... गलती हुई और बहुत बड़ी गलती हुई। सैकड़ों घर बरबाद हो जाने के सिवा और कोई नतीजा नहीं निकलता (पृ० ५२०) इस प्रकार के आंदोलनों में मेरा विश्वास नहीं है। इन में प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है। जब तक रोग का निदान न होगा उसकी ठीक औषधि न होगी केवल बाहरी टीम टाम से रोग का नाश न होगा (पृ० ५१६)।" असफल आंदोलनों और फलतः गोली कांडों का फल जनता भोगती है नेता नहीं राजनैतिक क्षेत्र में इरविन पैक्ट गांधी की सबसे बड़ी भूल थी। अतः प्रेमचंद पर इसका बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा। उन्हें गांधी की नीति में विश्वास न रह गया था। कर्मभूमि के अन्त में सलीम अमर से कहता है:—

"नतीजा यह होगा कि यहीं पड़े रहेंगे और रिआया तबाह होती रहेगी। तुम्हें तो कोई खास तकलीफ नहीं है लेकिन गरीबों पर क्या बीत रही है यह सोचो।" (४२१) इन शब्दों से प्रेमचंद के मनोभाव स्पष्ट हैं ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रेमचंद ये शब्द गांधी से कह रहे हैं। जब गरीबों का शोषण और उत्पीड़न किसी प्रकार न बंद करने में गांधीवाद सहायक न हो सका तो प्रेमचंद ने जनता को जाग्रत करके संघर्ष के पथ पर अग्रसर करना चाहा। फलतः 'गोदान' और 'मंगल सूत्र' की समस्याएं नवीन संदेश लेकर आगे आईं। इन उपन्यासों में अहिंसात्मक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इन उपन्यासों के नायक अपने अधिकारों के लिए और शोषण को समाप्त करने के लिए हथियार भी बांधने के लिए उद्यत हैं। (मंगल सूत्र ६०) इन उपन्यासों की समस्याएं सामाजिक सदाचार, आर्थिक वैषम्य और शोषकों पर तीव्र व्यंगाघात करती हैं। गोदान में गोबर,

भुनियां, सिलिया, और मातादीन आदि सामाजिक क्रांतियों के लिए उद्यत दृष्टिगत हैं और मंगलसूत्र में पं देवकुमार आर्थिक शोषण के लिए क्रांति करने के पक्षपाती हैं। इस प्रकार समस्याओं की दृष्टि से भी प्रेमचंद गांधीवाद से साम्यवाद की ओर गति-मान दृष्टिगत होते हैं। अतः समस्याओं की दृष्टि से उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने तीन कदम उठाये। प्रथम कदम था सुधारवाद दूसरा कदम गांधीवाद था और तीसरा कदम जनवाद।

आत्मनिर्भरता और स्वराज्य के लिए गान्धी जी देश के घर घर में घरेलू उद्योगों का स्वप्न देखा करते थे। परन्तु उन्होंने उत्पादनों के साधन पर जनता के अधिकार का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यह एक संकुचित और सीमित दृष्टिकोण था जिसको वे स्वराज्य-प्रगति के हेतु सहायक मानते थे। प्रेमचन्द भी गांधीवाद से प्रभावित होने के कारण घरेलू उद्योगों के पक्षपाती थे। रंगभूमि में सूरदास मिलों और बड़े बड़े कारखानों का विरोध करता हुआ चित्रित हुआ है पर कालांतर में "स्वराज्य का संकुचित राष्ट्रीयता वाले अर्थ" की उन्होंने स्वतः आलोचना की है। प्रेमचन्द अंग्रेजों को तथा देश और समाज को खोखला बना डालने वाले दोषों को एक साथ उखाड़ कर फेंकने के पक्षपाती थे। आहुति कहानी में आनन्द समाज में आगे भी सम्पत्ति का प्रभुत्व अनिवार्य मानता है। इसका विरोध करती हुई रूपमणि कहती है:—

"अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व बना रहे और पढ़ा लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है। अंग्रेजी महाजनों की धन लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर

करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिए हुए हैं उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इस लिए सिर चढ़ायेगी कि ये स्वदेशी हैं? कम से कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जान की जगह पर गोविन्द बैठा दिये जायँ। मैं समाज में ऐसी व्यवस्था चाहती हूँ। जहां कम से कम विषमता को आश्रय न मिल सके।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द इस दृष्टिकोण से गांधीवाद से नितांत भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। निश्चय ही यह दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। उत्पादनों के साधनों पर जनता के अधिकार होना मार्क्सदर्शन की विचार धारा है। आज यदि प्रेमचन्द जीवित होते तो जान के स्थान पर गोविन्द के किसानों पर गोली-लाठी प्रहार और शोषण को देखकर कितना दुखी होते। नवम्बर सन् ३२ में प्रेमचन्द ने लिखा था:—

"भाग्यवादी अकर्मण्य एवं आलसी होता है। प्रत्येक घटना और कार्य का गठबन्धन वह भाग्य से ही कर देता है। फलत: भाग्यवाद एक भयानक भ्रम का प्रचारक और कर्मठता को मिटा देने वाली भावना है। गांधीवाद के अन्तर्गत भाग्य और भगवान को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। अभिशाप और वरदान दोनों को ही गांधी-वादी भाग्य और भगवान का प्रसाद मानता है। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में भी प्राय: सभी पात्र भाग्य और भगवान की कृपा की भिक्षा मांगते परिलक्षित होते हैं। परन्तु 'कर्मभूमि' के पात्रों में इस दृष्टि से एक नवीन परिवर्तन व्यक्त हुआ। कर्मभूमि के पात्रों की कर्मठता और पुरुषार्थ की परम्परा 'गोदान' तथा 'मंगलसूत्र' में और भी विकसित होगई है। कर्मभूमि का नायक अमरकांत स्वत: कहता है:—

"अब क्रांति ही में देश का उद्धार है, ऐसी क्रांति जो सर्व व्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धांतों का, और परिपाटियों का अंत करदे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी करदे; जो मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़ तोड़ कर चकनाचूर करदे। जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।" (पृ० १२०)

इसी प्रकार पं० देवकुमार (मंगलसूत्र में) भाग्यवादी और भगवान के रूप में व्यक्त हुए हैं। परन्तु कुछ मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व के पश्चात उनमें यह पलायनवादी प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और शोषण के विरुद्ध मेहनतकशों और मजदूरों को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हुए हम देखते हैं।

गांधी जी की धर्म विषयक विचार धारा भारतवर्ष की परम्परागत विचार धारा है। यद्यपि गांधी की चिन्तन पद्धति नवीन है फिर भी उन्होंने धर्म के तत्वों को प्रगतिशील व्यक्ति की दृष्टि से नहीं देखा। अथवा दूसरे शब्दों में गांधी जी धार्मिक चिंतन में रूढ़िवादी थे। प्रत्येक सुधारवादी धर्म के प्रति प्रगतिवादी रहता है पर प्रेमचंद धर्म के दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रगतिवादी थे। धर्म के विषय में गांधी और प्रेमचन्द का दृष्टिकोण नितांत भिन्न था। धर्म के नाम पर प्रेमचन्द जनता का शोषण देखने के लिए नहीं तैयार थे। धर्म के ढकोसलों पर उन्होंने प्रायः प्रत्येक उपन्यास में तीव्र एवं कटु व्यंग बाणों का संधान किया है। 'सेवासदन' के महन्त रामदास ऐसे ही व्यक्ति हैं जो धर्म के नाम पर किसानों का डटकर शोषण करते हैं। यही नहीं वे अपने आराध्य श्री बांकेबिहारी जी के नाम पर घूसखोरी, अनाचार, दुराचार और हत्यायें तक कर डालते हैं;—

"श्रीबांकेबिहारी जी लेन देन करते और ३२) सैकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे वही रेहन-नामे-बैनामे लिखाते थे। श्री बांकेबिहारी जी की रकम दबाने का किसी को साहस न होता और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे कड़ाई कर सकता था। श्री बांकेबिहारी जी को रुष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था।......महन्त का अधिकारियों में खूब मान था। श्री बांकेबिहारी जी उन्हें खूब मोतीचूर के लड्डू मोहनभोग खिलाते थे।" पर गरीब किसानों के भाग्य में श्री बांकेबिहारी जी की ओर से इजाफा, और लात घूंसे ही बदे थे। इसी प्रकार कर्मभूमि के महन्त आशाराम गिरि के ठाकुर जी कभी ठाकुर जी का जन्मोत्सव करते, कभी ब्याह और कभी यज्ञोपवीत। महन्त जी के ठाकुर जी ने सैकड़ों बार जन्म लिया और हजारों बार ब्याह और प्रत्येक बार साधू,सन्यासी,महन्तों तथा धनी मानी लोगों को पकवानों के भोग, पर किसानों को प्रत्येक बार दस्तूरी, बेगार, भेंट, और न्यौछावर। भय यह था कि धर्म के नाम पर विरोध करने से नर्क का द्वार देखना पड़ता है। फिर भला किसमें साहस था। इसी प्रकार गोदान में मातादीन ब्राह्मण का सिलिया चमारिन से प्रेम सम्बंध है। चूंकि सिलिया उनसे अलग रहती है, महराज जी उसकी बनाई नहीं खाते हैं अतः वह फिर भी पूज्य हैं ब्राह्मण हैं। इस विषय में प्रेमचंद का प्रस्तुत व्यंग पठनीय होगा "हमारा धर्म है हमारा भोजन। भोजन पवित्र रहे फिर धर्म पर कोई आंच नहीं आ सकती। रोटियां ढाल बनकर अधर्म से हमारी रक्षा करती हैं।" कर्मभूमि में अमरकांत धर्म पर वादविवाद करते हुए ऐसी क्रांति का आवाहन करता है जो "मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़ फोड़ कर चकना चूर कर दे।" (पृ० १२०) इसी प्रकार प्रेमचन्द ने धर्म के बाह्याचारों की बड़ी निन्दा की है। धर्म

के नाम पर वे किसी वर्ग या वर्ण को श्रेष्ठ नहीं मानते। वरन् वे क्षमा, उदारता, दया और विश्व बन्धुत्व आदि भावनाओं से पूर्ण व्यक्ति को ही धार्मिक मानते हैं। प्रेमचन्द के अनुसार समाज में सभी समान हैं। कबीर के समान वे वृहत्तर मानवता के समर्थक थे। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रेमचन्द आर्त्त मानवता के कलाकार थे। एक शब्द में गांधी धार्मिक थे और प्रेमचन्द क्रियेटिव मेटीरियलिस्ट।

गांधी जी के असहयोग आंदोलनों का लक्ष्य था स्वराज्य। इस आंदोलन में सफलता प्राप्त करने के लिए गांधी जी भारतवर्ष की जनता को शक्तिशाली अंग्रेजी शासन से बारम्बार संघर्ष कराते रहे। परन्तु इन आंदोलनों और संघर्षों में भाग लेने वालों में केवल जनता के उच्च वर्गीय और कतिपय मध्यवर्गीय नागरिक थे। इन आंदोलनों में किसान और मजदूर ने नगण्य भाग लिया। किसानों की दशा सुधारने के लिए गांधी जी ने प्रयत्न अवश्य किया पर उनका न तो कोई संगठन किया गया और न उन्हें आंदोलन का पुर्जा ही बनाया गया। यह एक आश्चर्य की बात है। प्रेमचन्द का ध्यान इस ओर गया। वे जानते थे कि किसान मजदूर में जाग्रति उत्पन्न किये बिना स्वतंत्रता असम्भव है और इस जाग्रति के हेतु संगठन अनिवार्य है। किसानों को अपनाओ, उनकी दुर्दशा, उनके रोष और असन्तोष और अपने अस्तित्व को अधिक स्थायी और शोषण रहित बनाने के हेतु उनके संघर्ष का चित्रण प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में बार बार किया है। प्रेमचंद के पात्र संगठन की उपयोगिता समझते हैं। इसीलिए कर्मभूमि में प्रेमचंद ने समरकांत से कहलाया कि:—

"मैं यह नहीं चाहता कि आठ आने से एक पाई भी ज्यादा वसूल करो लेकिन दिलजोई के साथ तुम वेशी भी

वसूल कर सकते हो। जो भूखों मरते हैं, चीथड़े पहन कर और पुआल में सो कर दिन काटते हैं उनका एक पैसा भी दबा लेना अन्याय है। जब हम और तुम दो चार घंटे आराम से काम करके आराम से रहना चाहते हैं, जायदादें बनाना चाहते हैं, शौक की चीजें जमा करते हैं तो क्या यह अन्याय नहीं है कि जो लोग स्त्री समेत अठारह घंटे रोज काम करें, वह रोटी कपड़े को तरसें? बेचारे गरीब हैं, बेजबान हैं, अपने को संगठित नहीं कर सकते इसलिए सभी छोटे बड़े उन पर रोब जमाते हैं।" (पृष्ठ ४४४)

कर्मभूमि, रंगभूमि, गोदान आदि उपन्यासों में किसानों का जमींदार, कारिन्दे, अधिकारी, पूँजीवादी, मिलमालिक, डाक्टर, महाजन, पण्डित, और पुलिस सभी शोषण करते हैं। ये सभी उन अशिक्षित किसानों में फूट डालने का भी प्रयत्न करते हैं पर फिर भी उनके मध्य एक ऐसा सूत्र है जो शोषण के विरुद्ध उठने और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित करता है। रंगभूमि में सूरदास संगठन करके शत्रु से संघर्ष करने के लिए बारबार अपने साथियों को समझाता है। इसी प्रकार प्रेमाश्रम में प्रेमशंकर का व्यक्तित्व है। प्रेमचंद के समस्त उपन्यासों में 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में किसानों के संगठन पर अधिक जोर दिया गया है। कर्मभूमि में अमरकांत आद्योपांत किसानों के संगठन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

सत्याग्रह-आन्दोलन के चरमोत्कर्ष पर गांधी जी ने प्रत्येक बार समझौता कर लिया। जब जब आन्दोलन जनप्रिय और व्यापक बनने की स्थिति पर पहुँचा गांधी जी ने समझौता करके आंदोलन बन्द कर दिया। जन जागरण और स्वराज्य विषयक प्रचार के हेतु इन समझौतों से बड़ा व्याघात पहुँचा। अंग्रेजों की कूटनीति प्रत्येक बार सफलीभूत हुई। उठती

हुई जन शक्ति के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया गया। पर गांधी जी की अभ्यान्तरिक शक्ति की आज्ञा की अवहेलना करना किसके सामर्थ्य में था। गांधी जी के आदर्शों से प्रभावित होने के कारण प्रेमचन्द कुछ उपन्यासों में समझौता-वादी दृष्टिगत होते हैं। कर्मभूमि उपन्यास के अन्त में कुछ पात्र सच्चे गांधीवादी की भांति गवर्नर महोदय की प्रशंसा भी करते हुए दिखाये गये हैं। इसी उपन्यास के अंत में समस्त नेताओं के जेल पहुँच जाने पर गवर्नर की आज्ञा से रिहाई का वर्णन पढ़ कर हमें १६३१ के गांधी इरविन पैक्ट का स्मरण हो जाता है। परन्तु प्रेमचन्द गांधी जी की इस नीति से अधिक समय तक सहमत न रहे। गोदान और मंगलसूत्र के पात्र समझौता में विश्वास नहीं करते। मंगलसूत्र के नायक देवकुमार के विषय में प्रेमचंद ने स्वतः लिखा है:-

"पं० देवकुमार को धमकियों से झुकाना असम्भव था।" (३८)

यही देवकुमार शोषक से किसी प्रकार का समझौता करना जड़ता समझता है। रंगभूमि के प्रायः सभी कृषक पात्र समझौता के घोर विरोधी हैं। प्रेमचन्द के अधिकांश पात्र समझौता विरोधी है। शत्रु से समझौता करना सच्चे प्रगति वादी का आदर्श नहीं है। वह तो संघर्ष करके असत पर सत् का राज्य स्थापित करना चाहता है और शोषण के पंजे से शोषित को उन्मुक्त करना चाहता है।

प्रेमचन्द के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों में विद्रोहात्मक प्रकृति के दर्शन होते हैं। समाज, धर्म, राजनीति, शासन, महाजन, जमींदार, महन्त सड़ी गली प्राचीन व्यवस्था, हाकिम, समाज की मिथ्या मर्यादा, आदि के प्रति प्रेमचन्द के पात्र निरन्तर विद्रोह करते रहते हैं। इस प्रवृत्ति से शून्य एक भी उपन्यास नहीं मिलेगा। फिर भी सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि

कर्मभूमि, गोदान, मंगलसूत्र में यह भावना अधिक स्पष्ट और व्यापक है। सेवासदन में सुमन और सदनसिंह समाज व्यवस्था के प्रति निरंतर विद्रोह करते रहते हैं परन्तु भिन्न भिन्न दिशाओं में। कर्मभूमि में नैना के प्रस्तुत कथन में धर्म के ठेकेदारों के प्रति कितनी विद्रोह की भावना भरी है, "आधी रात तक इसी मन्दिर में जुआ खेलते हो, पैसे पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार द्वार भीख मांगते हो, फिर भी तुम धर्म के ठेकेदार हो। तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवताओं को कलंक लगता है।" धर्म की रक्षा, मंदिर की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भक्तों पर गोली चलाने वालों के प्रति अमरकांत कितना विद्रोही है देखिये "तुम सब मोटी तोंद वाले हरामखोर हो, पक्के हरामखोर! तुम मुझे नीच समझते हो! इसलिए कि मैं अपनी पीठ पर बोझ लादे हुए हूं। क्या यह बोझ तुम्हारी अनीति और अधर्म के बोझ से ज्यादा लज्जास्पद है जो तुम अपने सिर पर लादे फिरते हो और शर्माते जरा भी नहीं हो।" इसी प्रकार समाज के प्रति विद्रोह करने वाले पात्रों की संख्या बहुत बड़ी है। शोषकों के प्रति विद्रोही पात्रों में अमरकांत, समरकांत, नैना, सलीमा, प्रेम शंकर, मनोहर, सूरदास, मिठुआ, गोबर, धनिया सभी में विद्रोह की प्रवृत्ति बड़ी सजग है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इन पात्रों में अमरकांत अपने पिता समरकांत के शोषण नीति के विरुद्ध विद्रोह करता है, सुमन अपने पति गजाधर की संकीर्णता के प्रति विद्रोह करती है, गोबर अपने पिता की रूढ़िवादिता और सरलता के प्रति विद्रोह करता है, सूरदास, जगधर, भैरो, बजरंगी, नायकराम, शोषक जानसेवक के विरुद्ध विद्रोह करते हैं, सोफिया अपने पिता-माता की अर्थ लोलुपता के द्वारा मजदूरों की वंचना के विरुद्ध विद्रोह करती है, सलोनी, गूदड़, काशी, अमर, मनोहर, सुक्खू, दुखहरन, गिरधर, गोबर, धनिया आदि

हाकिम, जमींदार और महाजनों के प्रति विद्रोह करते हैं। कर्मभूमि के महन्त रामदास, और महन्त आशारामगिरि के अत्याचार और शोषण के विरुद्ध उनके किसान विद्रोह करते हैं, अमरकांत परम्परागत धार्मिक विचार धारा के विरुद्ध विद्रोह करके मिट्टी के देवताओं को तोड़ फेंकने के लिए विद्रोह करता है, मिठुआ अपने चचा की सरलता, शोषण का विरोध न करने के कारण उसके प्रति विद्रोह करता है। प्रेमचन्द के पात्र दोष, कुव्यवस्था और शोषण के प्रति सर्वत्र विरोध करते हुए दृष्टिगत होते हैं। धर्म के क्षेत्र में भी कुछ पात्र अनाचार का विरोध करते हैं। श्री बांकेबिहारी जी के नाम पर जनता को लूटने वाले महन्त रामदास का चेतू ने विरोध किया। और विरोध का मूल्य उसने प्राण देकर पूरा किया। चेतू को श्री बांकेबिहारी जी के आज्ञाकारी महन्तों ने यातना दे दे कर मार डाला पर महाप्राण चेतू ने श्री बांकेबिहारी जी के समक्ष घुटने न टेके। प्रेमचन्द के पात्रों में से समरकांत असहयोग आंदोलन के विरुद्ध भी विद्रोह करता है। इसी प्रकार कुछ पात्र सविनय अवज्ञा, और कुछ पात्र शोषक शक्तियों के साथ समझौता करने के प्रति विद्रोह करते हैं।

इन विद्रोही पात्रों में अधिकांश उग्रवादी हैं। सूरदास जैसे दो एक ऐसे पात्र भी हैं जो अधिक उग्र नहीं है पर उनका हृदय सर्वथा विरोध में संलग्न रहता है।

प्रेमचन्द के पात्र अंधविश्वासों, रूढ़िवादिता, एवं अंधानुकरण आदि के प्रति भी विद्रोह करते फिरते हैं। खुदाई फौजदार कहानी में सेठ नानकचन्द की धर्म निष्ठा का एक वर्णन पढ़िये "दया या उपकार जैसी मानवीय दुर्बलताएँ उन्हें छू भी नहीं गई थीं, नहीं महाजन कैसे बनते? उस पर धर्मनिष्ठ भी थे।

हर पूर्णमासी को सत्यनारायण की कथा सुनते थे, हर मंगल को महाबीर जी को लड्डू चढ़ाते थे, नित्य प्रति जमुना में स्नान करते थे। और हर एकादशी को व्रत रखते और ब्राह्मणों को भोजन कराते थे और इधर जबसे कराग नफा होने लगा था, एक धर्मशाला भी बनवाने की फिक्र में थे।" इसी प्रकार प्रेमचन्द के पात्र सर्वत्र धर्म के अधर्म से पूर्ण रूप की कटु आलोचना करते हैं। अमरकांत कर्मभूमि में ऐसी क्रांति का आवाहन करते हैं जो "मिट्टी के असंख्य देवताओं को तोड़ फोड़कर चकनाचूर कर दे। जो मनुष्य को धन धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।" (पृ० १२०)। अमरकाँत परम्परागत जात-पाँत भावना से भी विद्रोह करता है "मैं जात पाँत नहीं मानता, माता जी। जो सच्चा है वह चमार भी हो तो आदर के योग्य है, जो दगाबाज, झूठा, लम्पट हो, वह बाम्हन भी हो, तो आदर के योग्य नहीं" (१८४)। प्रेमचन्द के पात्र देवता और धर्म में इस लिए नहीं विश्वास करते कि ये दोनों ही अनादि काल से शोषण में सहायक बनते आ रहे हैं। "ईश्वर की उपासना महाजनी सभ्यता का प्रधान अंग है। मानों ईश्वर की उपासना के बिना इतना हराम का रुपया हजम न होगा।" प्रेमचन्द के "महाजन मनुष्यता हीन, पैसे को दांत से पकड़ने वाले, पैसे के लिए आसामी का चिता तक पीछा करने वाले, परन्तु शिव जी की मूर्ति पर नियमित जल चढ़ाने वाले होते हैं" (प्रेमाश्रम ९६)। प्रेमचंद के पात्र देवता की कल्पना से इस कारण चिढ़े हुए प्रतीत होते हैं कि ईश्वर की दृष्टि भेद परक दृष्टि है। उस महान शक्ति ने किसी को भूख से अधिक खाना दिया और किसी को खाने के अनुपात में अधिक भूख। उसी की कृति किसान और पूंजीपति दोनों हैं पर एक आधी धोती और आधी रोटी से जीवन काट देता है और दूसरा धन के साथ खेलता है। क्या यही ईश्वर का न्याय है। तब फिर उसकी

आवश्यकता ही क्या ? अन्याय करने वाले को कौन चाहेगा ?

प्रेमचन्द ने शोषण, असमान व्यवस्था, अन्याय, और ढकोसलों के विरुद्ध घृणा उत्पन्न करने में कोई कसर नहीं उठा रखी और जब इन शोषकों, तथा ढोंगियों को क्षति पहुँची, रहस्योद्घाटन हुआ तब उन्होंने प्रेमचन्द का "घृणा का प्रचारक," के रूप में प्रचार किया।

इस दृष्टिकोण से प्रेमचंद गांधीवादी विचार धारा से नितांत विरुद्ध प्रतीत होते हैं। गांधीवाद में प्रेम को प्रमुख स्थान दिया गया है। विद्रोह और घृणा के लिए कोई स्थान नहीं है। गांधीवादी शोषक और शोषण में भी प्रेम का सम्बंध देखना चाहते हैं फिर ईश्वर की कल्पना और सत्ता के विरुद्ध विद्रोह घृणा करने का साहस किसमें है ? गांधीवाद में जनता पर गोली और लाठी प्रहार ईश्वर की लीला का एक अंग मात्र माना गया है पर प्रेमचन्द्र के पात्र इसमें विश्वास नहीं करते। वे शोषण को ईश्वर की इच्छा मानकर मौन नहीं रह जाते वरन अधिकार स्वत्व की रक्षा के लिए हाथ में बम का गोला तक ले लेते हैं और शोषक के कारखाने में आग लगा देने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

गांधीवाद में शोषण, अत्याचार एवं अनाचार को रोकने के हेतु सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह का उपदेश दिया गया है यह सिद्धांत अनेकबार गांधी जी के नेतृत्व में कार्यान्वित भी हुआ है। इस सिद्धांत के अनुयायी वर्ग का कर्मभूमि में भी चित्रण हुआ। १९३० के आन्दोलन का इस उपन्यास पर प्रखर प्रभाव है परन्तु प्रेमचंद के अधिकांश पात्र महाजन, पूंजीपति जमींदार आदि शोषकों के विरुद्ध हथियार उठा लेने में संकोच नहीं करते हैं। रंगभूमि में मजदूरों का जितना चित्रण हुआ है उससे प्रकट होता है कि वे प्रतिहिंसा के लिए अस्त्र धारण करना आवश्यक समझते हैं रंगभूमि में सूरदास का भतीजा मिठुआ सूरदास से कहता है—

"मैं तो साहब से लूंगा वह चाहे जिससे दिलाएं। न दिलाएंगे तो जो कुछ मुझसे हो सकेगा, करूँगा। साहब कुछ लाट तो हैं नहीं। मेरी जायदाद उन्हें हजम न होने पायेगी। ......मैं यह सच पढ़े बैठा हूँ। लगा दूंगा आग, सारा गोदाम जलकर राख हो जायगा। बम के गोले बनाना जानता हूँ। एक गोला रख दूंगा, तो पुतली घर में आग लग जायगी। मेरा कोई क्या कर लेगा।" (पृ० ८७४)

मंगलसूत्र में पं० देवकुमार की दशा सुनिये:—

"कहां है न्याय? कहां है? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोच कर खा लेता है। कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिन दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है कुछ आदमी तरह तरह के हथियार बांधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आंतक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। ...... हां देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नज़र आता है ......लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो, स्वार्थी आत्मसेवी कहो। ......यहां देवता बनने की जरूरत नहीं है। देवताओं में ही नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन, नहीं जड़ता है।" (पृ० ५६—६०)

गोदान में मेहता रायसाहब से कहते हैं:—

"किसी को भी दूसरों के श्रम पर मोटे होने का अधिकार नहीं है। उपजीवी होना घोर लज्जा की बात है। समाज की ऐसी व्यवस्था जिसमें कुछ लोग मौज करें और अधिक लोग पिसें और

स्वपें, कभी सुखद नहीं हो सकती……हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया।" प्रस्तुत उद्धरण का अंतिम वाक्य संघर्ष करने के लिए हथियार उठाने की ओर संकेत करता है।

कर्मभूमि में भी इस चेतना के दर्शन बूढ़े-किसान चेतू में होते हैं। चेतू श्री बांकेबिहारी जी के जन्म पर गरीबी के कारण नजराना न दे सका। फलतः महन्त जी ने प्रोनोट लिखा लिया। कालांतर में फिर वही रुपये के लिए तगादा। पर चेतू न दे सका। महन्त जी के लम्बी लम्बी तोंद वाले मुसंडे शिष्यों ने चेतू को पीटना प्रारम्भ कर दिया। चेतू चाहे धन से कितना ही हीन क्यों न था पर चेतना, जाग्रति और प्रतिकार की भावना कम न थी। उसने भी हाथ पांव चलाए। फलतः श्री बांकेबिहारी जी की इच्छा से उसके हाथ पैर बांध दिए गए। फिर डंडों और गालियों की चतुर्दिक वर्षा होने लगी। पर चेतू कब मानता। उसने बेबसी की उस हालत में भी गाली देना उस समय तक जारी रखा जब तक प्राण पखेरू श्री बांकेबिहारी जी के चरणों में विलीन न हो गए। सोचिये यदि चेतू एक डन्डा भी पा जाता तो क्या दो एक को बिना मारे हुए वह मर सकता था ?

रंगभूमि के बजरंगी में भी हम हथियार उठा कर अपने अधिकार अपनी झोपड़ी के लिए संघर्ष करने के लिए तत्परता दृष्टिगत होती है। पर बेचारे ग्रामीण निर्धन बजरंगी के पास खाने के लिए पैसे तो थे नहीं फिर वह हथियार कहां से खरीदता, तो भी प्रेमचंद के मुख से सुनिए:—

"उसके मुख से पूरी बात भी न निकल पाई थी कि दो सिपाहियों ने उस पर डन्डे चलाने शुरू किए। बजरंगी से अब जब्त न हो सका। लपक कर एक सिपाही की गरदन, एक हाथ

से और दूसरे सिपाही की गरदन दूसरे हाथ से पकड़ ली और इतने जोर से दबाई कि दोनों की आखें निकल आई।"

(पृ० ८००-८०१)

इसी प्रकार नायकराम पचीसों ग्रामीणों को साथ में लिये हुए अपनी झोपड़ी की रक्षा करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए चित्रित किये गए हैं।

यह तो हुआ व्यक्तिगत स्वत्व के हेतु व्यक्तिगत संघर्ष का चित्र। पर स्वत्व रक्षार्थ समूह द्वारा हथियार ग्रहण करने के दृश्यों का भी उल्लेख प्रेमचन्द ने किया है। इनमें से प्रथम दृश्य है रंगभूमि में! निहत्थे किसानों पर गोली चलते ही कई आदमी गिर पड़े पर जो लोग बचे उन्होंने सुपरिंटेंडेन्ट और सशस्त्र पुलिस पर सड़क पर पड़े पत्थरों और ढेलों की बौछार करके बदला निकाला। इस अवसर पर यदि किसानों के पास हथियार होते तो वे उसका प्रयोग अवश्य करते। इसी प्रकार कर्मभूमि में भी तेजा तथा अन्य चार पांच जवान सामुहिक संगठन के रूप में दरोगा और चार कांस्टविलों पर पत्थरों से प्रहार करते हैं। (पृ० ४३६) लड़कों को निसानेबाजी का अभ्यास तो था नहीं फिर भी दरोगा साहब बच न सके।

प्रेमाश्रम के किसानों के पास बन्दूक और बम नहीं है तो इससे क्या वे कुल्हाड़ी से ही शत्रु का सामना करने के लिये उद्यत हैं। मनोहर प्रोत्साहित करता हुआ कहता है "कोई परवाह नहीं कुल्हाड़ा हाथ में लोगे तो सब ठीक हो जायगा। तुम मेरे बेटे हो, तुम्हारा कलेजा मजबूत है। तुम्हें अभी जो डर लग रहा है वह ताप के पहले का जाड़ा है। तुमने कुल्हाड़ा कन्धे पर रक्खा, महावीर का नाम लेकर उधर चले तो तुम्हारी आंखों से चिनगारियां निकलने लगेंगी।"

कर्मभूमि में प्रेमचन्द ने पुलिस और अहीरों के मध्य खुलकर लाठी चलने का वर्णन भी किया है। (पृ० ४७२) पर इस सबकी चरम सीमा उस समय परिलक्षित होती है जब प्रेमचन्द के नारी पात्र भी शत्रु के प्रति अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करने लगते हैं। इस दृश्य का वर्णन भी पठनीय है:—

"सलीम पीछे हटता जाता और यह दोनों उसे ठेलते जाते थे। उसी पल सलोनी लाठी टेकती हुई अपनी गाय को खोजने आ रही थी। पुलिस उसे उसके द्वार से खोल लाई थी। यहां यह संग्राम छिड़ा हुआ देखकर उसने अंचल सिर से उतार कर कमर में बांधा और लाठी संभाल कर पीछे से दोनों कसाइयों को पीटने लगी।" (पृ० ४७३)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द गांधी के अहिंसावाद से लेश मात्र भी सहमत नहीं थे। प्रेमाश्रम में मनोहर ने गौसखां का बध कर डाला और कर्मभूमि में सलीम ने सि० घोष पर घातक आक्रमण किया पर प्रेमचंद ने उनकी भर्त्सना नहीं की। ये दृढ़ प्रमाण है कि प्रेमचन्द अहिंसा की उस विचार धारा में विश्वास नहीं रखते थे जो गांधीवाद में फूली फली है।

प्रेमचन्द ने अपने साहित्य के द्वारा भारतवर्ष की आज़ादी के लिए प्रशंसनीय प्रयत्न किया था। प्रेमचन्द में देश भक्ति, राष्ट्र भक्ति कूट कूट कर भरी थी। वे भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आजादी और सर्वोदय चाहते थे। जहां एक ओर प्रेमचन्द के पात्र अमरकांत, प्रेमशंकर, सलीम, नैना आदि राजनैतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता के लिए सतत संघर्ष करते हैं, वहीं गोबर, झुनिया, धनिया, पं० देवकुमार, सूरदास, मिठुआ, सुक्खू, मनोहर, दुखहरन आदि आर्थिक स्वातंत्र्य के लिए मर मिटने के हेतु उद्यत दृष्टिगोचर होते हैं। इसी तरह कुछ पात्र शोषण, और जमीं-

दारी, जागीरदारी, एवं महाजनी व्यवस्था से भी मुक्ति पाने के लिए उद्योगशील हैं। कुछ पात्र उत्पादन के साधनों को जनता के हाथों में ले आना चाहते हैं इसी कारण हमें कहना ही पड़ता है कि प्रेमचन्द की देश भक्ति सच्ची जनवादी देश भक्ति है। वह एकांगी देश भक्ति नहीं है। प्रेमचन्द आजादी के पश्चात किसानों और मजदूरों को लूटने के लिए टाटा बिड़ला के हाथों में छोड़ नहीं देना चाहते हैं, न चाहते हैं कि जॉन के स्थान पर गोविन्द कुर्सी पर बैठकर जनता को उत्पीड़ित करे। इसीलिए प्रेमचन्द ने साधारण जनता के दुख-सुख, हर्ष-विषाद, आशा-आकांक्षा आदि का एक सच्चे जनवादी देशभक्त की भांति व्यक्त किया है। साम्राज्यवाद शक्ति के ३ आधार स्तम्भ हैं :—

१—आर्थिक शोषण

२—औपनिवेशिक राज्य

३—साम्प्रदायिकता

प्रेमचन्द के साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह भली भांति जानता है कि इन तीनों विषयों को लेकर उन्होंने कितने साहित्य की रचना की है। इन तीनों तत्वों के विरुद्ध जैसे उनके हृदय में जन्म जात बैर रहा हो। डोमिनीयन स्टेटस और स्वराज्य के सम्बन्ध में १६३० ई० में उन्होंने 'हंस' में अनेक सम्पादकीय टिप्पणी लिखी थीं। विचारार्थ कतिपय पंक्तियां पठनीय हैं:—

"इगलैंड का डोमिनीयन स्टेटस के नाम से न घबराना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं। न गोलमेज़ का उलझाव है। इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानों पर हाथ रखता है। लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मत-भेद हैं, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता……डोमिनीयन के पक्षकों को गौर से देखिये तो उसमें हमारे राजे-महराजे, हमारे जमींदार, हमारे जागीरदार, हमारे धनी मानी भाई ही

ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की रक्षा में उन्हें बहुत कुछ दब कर स्वराज्य में रहना पड़ेगा। मजदूरों किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी...... स्वराज्य गरीबों की आवाज है डोमिनीयन गरीबों की कमाई पर मोटे होने वालों की ...... हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमे ऐसे लक्षण नजर आ रहे हैं कि यह दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में आपस में मिल जाएंगे और प्रजा को दबाने की, इस आंदोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे। ...... किसानों की हालत रोज बरोज खराब होती जा रही है। उन पर लगान बढ़ता जाता है, सख्तियां बढ़ती जाती हैं। कौंसिल में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। ...... कांग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें; लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें अखरन नहीं हो सकती है जो एक किसान को हो सकती है ...... सब छोटे बड़े उसी को नोचते हैं सब उसी का रक्त और मांस खा खाकर मोटे होते हैं, पर उसकी कोई खबर नहीं लेता।"

इस उद्धरण से गांधी जी की स्वराज्य विषयक धारणा और देश प्रेम का भला परिचय मिल जाता है। इस उद्धरण में अंतिम पंक्तियां ध्यान से पढ़ने के योग्य हैं। ये पंक्तियां १९३० ई० में लिखी गई थीं। इन में प्रेमचन्द कांग्रेसियों की किसानों के प्रति उदासीनता से क्षुब्ध प्रतीत होते हैं। १९३५ में "जब कांग्रेस ने प्रथम बार मिनिस्ट्री सम्भाल ली तो नेताओं के द्वारा जनता और किसानों का शोषण देखकर प्रेमचंद को अत्यधिक खेद हुआ। उनकी आशाएं निराशा में परिवर्तित हो गईं। तत्कालीन कांग्रेसी शासकों की हेय मनोवृति

का चित्रण प्रेमचन्द ने गोदान में सफलता पूर्वक किया है।

"हम जिनके लिए त्याग करते हैं उनसे किसी बदले की आशा रखकर भी उनके मन पर शासन करना चाहते हैं चाहे वह शासन उन्हीं के हित के लिए हो, यद्यपि उस हित को हम इतना अपना बना लेते हैं कि वह उनका न होकर हमारा हो जाता है। त्याग की मात्रा जितनी ही ज्यादा होती है, यह शासन की भावना उतनी ही प्रबल होती है और जब सहसा हमें विद्रोह का सामना करना पड़ता है तो हम क्षुब्ध हो उठते हैं और वह त्याग जैसे प्रतिहिंसा का रूप ले लेता है।" (पृ० ५३७)

विगत पृष्ठों से स्पष्ट है प्रेमचंद एक सच्चे जनवादी मार्क्सवादी कलाकार थे। प्रेमचन्द ने मार्क्स दर्शन पढ़ा था या नहीं इसके पक्ष में या विपक्ष में कोई साक्ष्य नहीं मिलता, पर एक सच्चे मार्क्सवादी की भांति उन्होंने जीवन संघर्ष का निकट से अध्ययन किया था। इसका प्रमाण उनका पूरा साहित्य है। प्रेमचन्द ने जीवन को भिन्न दृष्टिकोणों से देखा था। और प्रत्येक दृष्टिकोण के अध्ययम से वे पक्के जनवादी सिद्ध होते हैं। प्रेमचंद समाजवाद व्यवस्था को ही देश के लिए हितकर मानते थे। मई १९३३ में हंस में उन्होंने लिखा था:—

"समाज व्यवस्था में बड़े वेग से क्रांति हो रही है। कम्युनिज्म का प्रचार हो या न हो पर समाज का आदर्श बदल गया है। भारत जैसे रूढ़ियों के गुलाम देश दस बीस साल और परलोक में पड़े रहें लेकिन संसार समष्टि की ओर जा रहा है सच पूछो तो समष्टिवाद की अनीश्वरता जो हर आदमी के लिए समान अवसर की व्यवस्था करती है, जो किसी का जन्म सिद्ध या परम्परागत विशेष अधिकार नहीं मानती, ईश्वरता से कहीं निकट है।"

उस उद्धरण में "संसार समष्टि की ओर जा रहा है" का क्या तात्पर्य है सभी पढ़े लिखे जान जायेंगे। इसी प्रकार 'हंस' १६३५ में प्रेमचंद ने लिखा था :—

"साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं, जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कम्पन शुरू हो गया है।"

और अपनी मृत्यु से दो मास 'पूर्व महाजनी सभ्यता' शीर्षक में प्रेमचन्द ने सितम्बर १६३६ के 'हंस' में लिखा था:—

......अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम से उदय हो रहा है जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूंजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी, जिसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है वह पतिततम प्राणी है... निःसंदेह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दांत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूंजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता...इस समाज व्यवस्था में जो स्वाधीनता और आजादी है वह दुनियां की किसी सभ्यतम कहाने वाली जाति को सुलभ नहीं है...जहां धन की कमी बेशी के आधार पर असमानता है वहां जोर जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार सारी दुनियां की बुराइयां अनिवार्य रूप से मौजूद हैं। जहां धन का आधिक्य नहीं अधिकांश मनुष्य एक ही स्थिति में हैं वहां जलन क्यों, जब्र क्यों हो ?...इस पैसे पूजा को मिटा दीजिये, सारी बुराइयाँ अपने आप मिट जांयेगी, जड़ न खोदकर केवल फुनगी की पत्तियां

तोड़ना बेकार है। यह नयी सभ्यता धनाढ्यता को हेय और लज्जा जनक तथा घातक विष समझती है। धन्य है वह सभ्यता जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत कर रही है और जल्दी या देर से दुनियां उसका पदानुसरण अवश्य करेगी। यह सभ्यता अमुक देश की समाज रचना अथवा धर्म मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है—यह तर्क नितांत असंगत है।"

इस उद्धरण में "एक नई सभ्यता का सूर्य पश्चिम से उदय हो रहा है, जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुसरण करेगी" "समाज व्यवस्था" तथा "नई सभ्यता" आदि से किस व्यवस्था की ओर लेखक का संकेत है और क्या ध्वनि निकल रही हैं यह किसी से छिपा नहीं है। फिर इस सब को पढ़ लेने के पश्चात प्रेमचन्द के विचारों के विषय में राजनैतिक आदर्शों के विषय में क्या कोई दुविधा रह जाती है? क्या अब भी सोचना रह जाता है कि प्रेमचन्द राजनैतिक परम्परा के लेखक थे और किस व्यवस्था में वे जनता का कल्याण देखते थे। निश्चय ही प्रेमचन्द जनवादी कलाकार थे।

प्रेमचंद अपनी विचार धारा में अत्यधिक प्रगति वादी थे। लेखन काल के पूर्वार्ध में वे गांधी जी से प्रभावित अवश्य थे पर उनकी नीति और विचारधारा को उपयोगी मानकर उस पर ठहरे नहीं। प्रेमचन्द बराबर विचारधारा में उन्नतिशील ही बने रहे। श्री एहतिशाम हुसैन ने कितना सच कहा है "कि प्रेमचन्द कहीं ठहरे नहीं। वे बराबर गतिशील ही बने रहे। यह उनकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है।"

देश में माउन्टबैटन मार्का आजादी से भारतीय समाज में कोई परिवर्तन न हो सका। पहले की भांति विदेशी पूंजी आज भी

देश का शोषण कर रही है। शोषण का चक्र ठीक पहले की भांति चल रहा है आज की इन परिस्थितियों में प्रेमचन्द के विद्रोही पात्रों का सन्देश गूंजता है कि "जान की जगह हम गोविन्द को शोषण नहीं करने देंगे।"

प्रेमचन्द का साहित्य जनवादी क्रान्तिकारियों के हाथ में जबरदस्त साधन है। रोगी समाज से देश की दुर्दशा बढ़ती जा रही है, इस सामाजिक व्यवस्था को बदले बिना खुशहाली अमन और जनवाद नहीं आ सकता है।

प्रेमचन्द ने सदा जनता से सीखा और सिखाया। प्रेमचन्द का साहित्य कलाकारों के सामने एक मिसाल है कि वे समाज का गहरा अध्ययन करके जनता के निकट आए। उनके भावों को जनता की सीधी सादी भाषा में व्यक्त करें। जो जनता के जितने निकट हो वह उतना ही गति शील होगा। प्रेमचंद की परम्परा को तभी बल मिल सकता है जब हम जनता के दुख दरिद्र को अपना दुख समझें।

परिशिष्ट

साहित्यकार का कर्म

साहित्यकार एक ज्वाला है, एक मशाल है जो स्वतः जल कर जनता का पथ आलोकित करता है, जिसकी रचनाएं ध्रुवतारा की भांति जनता को मार्ग दिखाती हैं। वह जनता के भावों मनोवृत्तियों और विभिन्न स्थितियों का चतुर चितेरा है। उसके साहित्य में कोटि कोटि जनता के मूक वाणी के तार झंकृत होते हैं। समाज के विकास-विनाश उत्थान-पतन संकट-सम्पन्नता का क्रमबद्ध इतिहास यदि कहीं देखने को मिल सकता है तो वह है साहित्यकार की रचना में। सुख दुख, हर्ष विषाद, प्रत्येक दशा में वह अपनी अभिन्न हृदया लेखनी को गतिमान बनाए रखता है। वह जनता का अग्रदूत और पथ द्रष्टा है। वह जीवन के सभी स्वार्थों, कामनाओं और आकांक्षाओं का परित्याग करके जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए साहित्य सर्जन करता है। वह जनता के लिए जीता और मरता है। वह युग का प्रतिनिधि है, युग का नेता है और युग का मापदण्ड है।

लेखनी ग्रहण करते ही साहित्यकार पर बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। साहित्य सर्जन खेल नहीं कि जिधर मन दौड़ा उधर लेखनी ने उसका अनुसरण किया। साहित्यकार का कर्म बड़ा दुरूह, दुःसाध्य है। वह कागज और लेखनी के माध्यम से जनता की भावनाओं के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता है। उसका दायित्व गुरुत्व से पूर्ण है। यदि परम ब्रह्म की कल्पना ठीक मान ली जाए और उसको प्रत्येक वस्तु में स्थित रहने के विचार से किसी को आपत्ति न हो तो बड़ी सरलता से कहा जा सकता है कि मनुष्य उस परम पिता के समक्ष अपने कर्मों के लिए अपने

कृत्यों के हेतु उत्तरदायी हैं। परंतु साहित्यकार को तो प्रत्येक मनुष्य के प्रति उत्तरदायित्व निभाना पड़ता है। वह समाज के छोटे २ और बड़े से बड़े सभी के प्रति उत्तरदायी है। साहित्यकार जनता की अभिरुचि का गुलाम नहीं है। उसकी लेखनी किसी बन्धन या प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं करती है। वह विद्रोह की आग उसका अन्तरात्मा है जो रग-रग में धधकती रहती है। वह जनता का बिना मोल का चेरा है। साहित्यकार एक आदर्श के लिए जीता और मरता है। वह लक्ष्य हीन साहित्य की रचना नहीं करता है। साहित्यकार भांड़ या विदूषक नहीं है। जनता के मनोरंजन, सामन्तों की प्रसन्नता, श्रीमानों की फरमायशों, स्तवनों और स्तुतियों से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जनता और आदर्श उसे लेखन के लिए अनुप्राणित करते हैं और वह उसे व्यक्त करता है, विवशता के कारण नहीं वरन स्वेच्छा से।

साहित्यकार इसी संसार का जीव है। वह अभावों से पूर्ण इसी संसार में का प्राणी है। कल्पना के लिए उसके संसार में कोई स्थान नहीं। उसका समय यथार्थ की नींव पर बना है। यथार्थ का ही वातावरण उसके संसार में चतुर्दिक वर्तमान दृष्टिगत होता है। वह जन जीवन को यथार्थ की कसौटी पर ही आंकता है। साहित्य की प्रत्येक रग में उसे यथार्थ की ही चाह रहती है। विद्यापति, देव, बिहारी, मतिराम आदि का संसार कल्पना का संसार था। उसमें सौंदर्य ही प्रधान है। उनके संसार में सदैव वसन्त ऋतु छाया रहता है। शीत, मन्द, सुगन्धित वायु बहा करती है। चांदनी फैली रहती है। सर्वत्र गुलाब फूले रहते हैं। चाहे वह स्नानागार हो चाहे शयनागार सर्वत्र गुलाब बिछे हुए हैं। उस संसार में सब सुन्दर है कोई असुन्दर नहीं। सब युवक हैं कोई वृद्ध नहीं। उस संसार में आनन्द-सुख, वासना, उपभोग ही हैं, कष्ट नहीं, भोग नहीं, विलासिता के अतिरिक्त

और कोई जीवन नहीं। साहित्यकार ऐसे संसार से घृणा करता है कारण कि वह जानता है कि ऐसा संसार केवल अभिजाति वर्ग का संसार है। केवल मुट्ठी भर लोगों का संसार है, जनता के जीवन से उसका कोई सरोकार नहीं है। वह जनता के जीवन और वस्तुस्थिति का सूक्ष्म पर्यालोचक है।

साहित्यकार सौन्दर्य भावना से शून्य नहीं है। सौंदर्य की अनुभूति से तो शायद ही कोई शून्य हो। हां यह अवश्य है कि अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसकी सौन्दर्य भावना में अन्तर है। रीति कालीन कवियों की सौंदर्य भावना बड़ी विचित्र है। उनका सौन्दर्य रंगे हुए ओंठ, रंगे हुए गाल, रंगी हुई आंखों वाली गौर वर्ण, छुई मुई सी कोमल, लजीली, विलासिनी, कामिनी में वास करता है। यौवन से उसका निकट सम्बन्ध है। बुढ़ापा आने पर विद्यापति और केशव के समान वह रो उठता है। इसके विरुद्ध हमारे साहित्यकार का सौंदर्य है। वह उस दीन हीन कृशकाय नारी में भी सौंदर्य देखता है जिसके ओंठों में पपड़ियां पड़ गई हैं, गाल क्षुधा और प्रकृति से लड़ते लड़ते बैठ गए हैं। आंखें धंस गई हैं, उनमें कीचड़ भरा हुआ है। जो वैशाख, ज्येष्ठ की दोपहरी में खेत की मेड़ पर धूप भरी छांह में अपनी नन्हीं कोमल संतान को सुलाकर खेत में पसीना बहा रही है। वह उस मजदूर नारी में भी सौंदर्य देखता है जो इलाहाबाद के पथ पर धूप में पत्थर तोड़ रही है और जिसका हथौड़ा भूख की तीव्रता के कारण उठ ही नहीं पाता है। वह विधवा, अनाथों, दीन दुखी, जीवित मृत, अधमृत, सभी में सौंदर्य देखता है। वह मानव में इसी सौंदर्य को जाग्रत करने का प्रयत्न करता है। जिस साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जाग्रत और सक्रिय होती है उसकी रचना में उतनी ही अधिक प्रभावशालीनता होती है साहित्यकार की कला और सौंदर्य भावना अभावों के प्रतीक, दारिद्र्य की साकार प्रतिमा

झोपड़ों और खण्डहरों में भी सुन्दरता खोजती है। उसकी कला अमीरों का पल्ला और कद्रदानी छोड़ कर गरीबों के पीछे लगी है। इस युग में सौंदर्य की कसौटी बदल गई और साहित्यकार का दृष्टिकोण विस्तृत हो गया है।

आदर्श साहित्य का प्राण है। आदर्श से विहीन साहित्य निष्प्राण साहित्य है। आदर्श ही जीवन है। जिस साहित्य की रचना कभी आदर्श के आधार पर नहीं होती है उससे कौन प्रेरित होगा? कौन अनुप्राणित होगा? साहित्य का भवन यथार्थ की नींव पर खड़ा होता है और उसके विकास और प्रसार के लिये आदर्शों का उन्मुक्त नभ मण्डल है। रीतिकालीन साहित्य आदर्श रहित साहित्य है। दो सौ वर्षों के इस साहित्य से कौन नवयुवक प्रेरणा पाकर कर्तव्य मार्ग पर अग्रसर होगा। इस लम्बे अर्से में घुमा फिरा कर वही नायिका भेद वही नख शिख वर्णन सांस के साथ ६ हाथ आगे और ७ हाथ पीछे चली जाने वाली नायिका किस संदेश की वाहिका है? आदर्श की रक्षा और पूर्ति के लिए साहित्यकार जीवन पर्यन्त प्रयत्न शील रहता है और असफल होने पर वह प्राणों का उत्सर्ग भी कर देता है। उसके लिए आदर्शों का मोह प्राणों के मोह से मंहगा रहता है पाश्चात्य लेखक क्रिस्टोफर काडवेल उन यशस्वी लेखकों में है जिसने आदर्शों की रक्षा के लिए अपने प्राणों को मूल्यहीन समझा। आज हमारे साहित्यकार को काडवेल का अनुसरण करना होगा।

कर्म जीवन का चिन्ह है और अकर्मण्यता मृत्यु का। हिन्दी के साहित्यकारों में कर्म का अभाव है। प्रेमचन्द के शब्दों में "हम साहित्यकारों में कर्म शक्ति का अभाव है। यह एक कड़वी सचाई है, पर हम उसकी ओर से आंखें नहीं बन्द कर सकते हैं। अभी तक हमने साहित्य का जो आदर्श अपने सामने रखा

था, उसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी।" कर्माभाव ही उसका प्रधान गुण था। आलस्य, अभिजात्य भावना, चाटुकारिता उसे चारों ओर से घेरे हुई थी। वह उनके दलदल में फँसा हुआ था। जिन भावनाओं से जनता को लाभ था उन्हें उसने स्पर्श तक नहीं किया और जिन विषयों से सामन्तों का मनोरंजन होता था उन पर उसने जी खोल कर लिखा। कर्माभाव से हमारा साहित्य जड़ बनता गया। दो दो सौ वर्षों तक एक ही धारा प्रवाहित रही। उसमें क्रांति या परिवर्तन उपस्थित करने वाला एक भी कवि नहीं दिखाई दिया। साहित्यकार का कर्म है जन जाग्रति उपस्थित करना। यह कार्य उसे अपनी लेखनी के द्वारा करना होगा। उसे अत्याचार, दमन, शोषण, कुचक्र अनाचार के चक्र को नष्ट करने के हेतु जनता को केवल जगाना ही न होगा वरन् उसे झकझोर देना होगा। और यदि झकझोरने से भी जनता न जगे तो उसे 'कर्म', 'जीवन', 'सत्य', 'दमन' के नाम पर स्वतः क्रांति का झण्डा लेकर आगे बढ़ना होगा। मानवता की रक्षा के लिए जन सत्व के नाम पर उसे वह सब कुछ करना होगा जिससे दमन और शोषण से उन्मुक्त एक स्वतंत्र समाज की स्थापना हो सके। साहित्यकार केवल लिखने की मशीन नहीं है। उसमें जीवन है, ज्वाला है, आग है। वह आग समस्त विनाशकारी तत्वों को नष्ट कर देगी। इसके लिए उसे सक्रिय बनना पड़ेगा। आवश्यकता और स्थिति उत्पन्न होने पर उसे वर्दी पहननी पड़ेगी, हथियार धारण करना पड़ेगा और आदर्श के रक्षार्थ, जनता के लिए युद्ध के मोर्चे पर जाना पड़ेगा। यही उसका धर्म है। यही उसका कर्म है। रूस के तिखोनोव, सिमोनोव, गोरबतोफ तथा पेमोफ आदि बीसों लेखकों ने फौजी वर्दी पहन ली और एक हाथ में कलम तथा दूसरे में बन्दूक लेकर मैदान में जा खड़े हुए। उन्होंने बन्दूक चलाई, तोपें चलाईं और आदर्श

की रक्षा की। उन्होंने तोपों की गड़गड़ाहट में भी लेखनी को गतिमान बनाया। कर्म की पवित्र अग्नि में तप कर उन्हें नया जीवन मिला, नई प्रेरणा मिली, नया प्रकाश मिला। विघटन के बाद निर्माण और निर्माण के बाद विघटन के कर्म को उन्होंने देखा और अनुभव किया। इस लिए उनका साहित्य नवीन संदेश का वाहक बना। जन जागरण के लिए उसे सब कुछ करना होगा। चाहे वह केवल लिखना हो या तोप चलाना। साहित्यकार का प्रधान कार्य है लेखनी के द्वारा जाग्रति उत्पन्न करना, आवश्यकता पर उसे हथियार भी उठाना पड़ेगा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि निर्गुणियां कवियों और भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में कर्म भावना का ज्ञान था। उनमें कर्मठता थी। वे जन-जागरण के लिए प्रयत्नशील थे। इस दृष्टिकोण से रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से दीवालियापन दिखाई देता है। उनमें कोई भी मौलिकता नहीं दिखाई देती है। २०० वर्षों तक एक ही विषय पर पिष्टपेषण होता रहा। नारी के पवित्र रूप के साथ खूब खिलवाड़ हुआ और खिलवाड़ तो युग युग से भारतीय जनता को तथा धार्मिक साहित्य को अनुप्राणित करने वाले महापुरुष कृष्ण और उनकी शक्ति राधा के साथ भी हुआ। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में:—

"उद्देश्य कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया,
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया।
कवि-कर्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहां,
वह वीर रस भी स्मर-समर में हो गया परिणत यहां।
सोचो, हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की—
श्रीकृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करते लोक की।
भगवान को साक्षी बनाकर यह अनङ्गोपासना,
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना।।"

रीतिकाल का आरंभ जहांगीर के राज्यकाल से होता है और ईस्टइण्डिया कम्पनी की स्थापना होते होते उसका अन्त हो गया। इन दो सौ वर्षों में अनेक युद्ध हुए राज्य बने और बिगड़े, कितने ही सम्राट तख्त पर बैठे और हटे। भारतीय राजनीति, संस्कृति और धर्म संकट में पड़े। अनेक ऐसे दुर्भिक्ष पड़े जिनमें माता पिता ने सन्तानों को भून कर खा डाला। जनता का शोषण होता आ रहा था और जारी भी रहा। पर रीति कवि जड़ बने रहे। उन पर परिस्थितियों का असर न पड़ा। नायिकाओं के यौवन चित्रण, उनके रूठने और मनाने में ही व्यस्त रहे। नायिकाएँ ऐसी कि न उन्हें नायक के रूठने में चैन न प्रेम करने में शांति। मतिराम की नायिकाएँ इसलिए दुखी हैं कि उनका नायक उनसे अत्यधिक प्रेम करता है और एक दिन भी नहीं रूठा। नवयुवकों पर इस काव्य का क्या प्रभाव पड़ेगा जब तक जनता की रोटी की समस्या नहीं हल हो जाती तब तक इस साहित्य की क्या उपयोगिता है। ऐसा साहित्य समाज की नैतिकता और साहित्य के विकास में बाधा बना इसका साक्षी तो इतिहास भी है। जिस साहित्य से कठिनाइयों पर विजय पाने की प्रेरणा, दृढ़ संकल्प, जाग्रति, मानसिक तृप्ति और सुरुचि की जाग्रति न हो वह साहित्य कहाने के योग्य नहीं है।

जनता क्रांति का स्रोत है। अविद्या और अज्ञान की निद्रा में सुप्त जनता के हृदय में क्रांति के भाव हैं पर उन्हें जाग्रत करने का कार्य साहित्यकार को ही करना होगा। यही उसका कर्म है।

